एम.एस.डब्ल्यू. पूर्वार्द्ध
तृतीय प्रश्नपत्र

मानव वृद्धि एवं व्यक्तित्व विकास

(HUMAN GROWTH AND PERSONALITY DEVELOPMENT)

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल
MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY – BHOPAL

Reviewer Committee

1. Dr. Sadhana Singh Bisen
   Former Assistant Professor,
   BSS College, Bhopal (MP)
2. Dr. Shailja Dubey
   Professor
   Institute for Excellence in Higher
   Education, Bhopal (M.P.)
3. Dr. Aarti Shrivastava
   Professor
   Govt. Sarojini Naidu (PG) College, Bhopal

Advisory Committee

1. Dr Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (MP)
2. Dr L.S.Solanki
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (MP)
3. Dr. Anjali Singh
   Director, Student Support
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (MP)
4. Dr. Sadhana Singh Bisen
   Former Assistant Professor,
   BSS College, Bhopal (MP)
5. Dr. Shailja Dubey
   Professor
   Institute for Excellence in Higher Education,
   Bhopal (M.P.)
6. Dr. Aarti Shrivastava
   Professor
   Govt. Sarojini Naidu (PG) College, Bhopal

COURSE WRITERS

Dr Rajesh Kushwaha, Assistant Professor, Deptt. of Social Work, Institute of Social Sciences, Dr. B. R. Ambedkar University, Agra
Units (1-5)

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

मानव वृद्धि एवं व्यक्तित्व विकास

Syllabi	Mapping in Book
इकाई–1 वृद्धि और विकास की प्रकृति एवं सिद्धांत – विकास का अर्थ – विकास के सिद्धांत – वृद्धि व विकास की प्रकृति – वृद्धि तथा विकास के समन्वित सिद्धांत; विकास के आयाम – शारीरिक विकास – मानसिक विकास – सामाजिक विकास – संवेगात्मक विकास; विकासात्मक कार्य – विकासात्मक कार्य की विशेषतायें – अवस्था के अनुसार विकासात्मक कार्य – विकासात्मक कार्य के प्रमुख स्वरूप।	**इकाई 1** : मानव वृद्धि एवं विकास **(पृष्ठ 3–32)**
इकाई–2 मनो–क्रियात्मक विकास– मनो–क्रियात्मक विकास की परिभाषायें – मनो–क्रियात्मक विकास की अवस्थायें – मनो–क्रियात्मक विकास की विशेषतायें – मनो–क्रियात्मक विकास का महत्व; मनो–सामाजिक विकास – मनो–सामाजिक विकास की अर्थवत्ता एवं विशिष्टता – मनो–सामाजिक विकास के विविध स्वरूप – मनो–सामाजिक विकास का महत्व; निष्कर्ष।	**इकाई 2** : मनो–क्रियात्मक एवं मनो–सामाजिक विकास **(पृष्ठ 33–65)**
इकाई–3 मानव समाजीकरण – मानव समाजीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएं – मानव समाजीकरण की विशिष्टताएं – मानव समाजीकरण की अवस्थाएं एवं महत्ता; आनुवंशिकता एवं पर्यावरण – आनुवंशिकता : अर्थवत्ता एवं व्यक्तित्व–विकास में भूमिका – पर्यावरण का अर्थ – व्यक्तित्व विकास में पर्यावरण का प्रभाव – बालक के लालन–पालन अभ्यास व व्यक्तित्व–विकास में समाजीकरण की भूमिका।	**इकाई 3** : मानव समाजीकरण में आनुवंशिकता एवं पर्यावरण **(पृष्ठ 67–96)**
इकाई–4 व्यक्तित्व की अवधारणा – व्यक्तित्व का अर्थ एवं परिभाषाएँ – व्यक्तित्व की विशेषतायें – व्यक्तित्व के प्रकार; व्यक्तित्व का मनो–गतिशील सिद्धांत – सिगमण्ड फ्रायड का व्यक्तित्व सम्बन्धित 'मनोविश्लेषणात्मक' सिद्धान्त – अल्फ्रेड एडलर का सिद्धांत – कूले का व्यक्तित्व सम्बन्धी सिद्धान्त – आटो रैंक का व्यक्तित्व का सिद्धान्त – कार्ल युंग का सिद्धांत; व्यवहार का सिद्धांत	**इकाई 4** : व्यक्तित्व विकास के सिद्धांत **(पृष्ठ 97–128)**
इकाई–5 बुद्धि का अर्थ एवं परिभाषाएं – बुद्धि के खण्ड या कारक का सिद्धांत – एक–खण्ड या कारक का सिद्धांत (बिने, टर्मन, स्टर्न) – दो–खण्ड या कारक का सिद्धांत (चार्ल्स स्पीयरमैन) – तीन–खण्ड या कारक का सिद्धांत (स्पीयरमैन) – बहु–खण्ड या कारक का सिद्धांत (कैली तथा थर्स्टन) – मात्रा का सिद्धांत (थार्नडाइक); बुद्धि–लब्धि एवं बहु–बुद्धि – बुद्धि–लब्धि – मल्टीपल इंटेलिजेंस या बहु–बुद्धि; सामाजिक बुद्धि – सामाजिक बुद्धि क्या है? – सामाजिक बुद्धि के तत्व – सामाजिक बुद्धि का महत्व; भावनात्मक बुद्धि	**इकाई 5** : बुद्धि–लब्धि तथा भावनात्मक–लब्धि **(पृष्ठ 129–151)**

विषय–सूची

परिचय 1–2

इकाई 1 मानव वृद्धि एवं विकास 3–32

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 वृद्धि और विकास की प्रकृति एवं सिद्धांत
  1.2.1 विकास का अर्थ
  1.2.2 विकास के सिद्धांत
  1.2.3 वृद्धि व विकास की प्रकृति
  1.2.4 वृद्धि तथा विकास के समन्वित सिद्धांत
1.3 विकास के आयाम
  1.3.1 शारीरिक विकास
  1.3.2 मानसिक विकास
  1.3.3 सामाजिक विकास
  1.3.4 संवेगात्मक विकास
1.4 विकासात्मक कार्य
  1.4.1 विकासात्मक कार्य की विशेषतायें
  1.4.2 अवस्था के अनुसार विकासात्मक कार्य
  1.4.3 विकासात्मक कार्य के प्रमुख स्वरूप
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 2 मनो–क्रियात्मक एवं मनो–सामाजिक विकास 33–65

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 मनो–क्रियात्मक विकास
  2.2.1 मनो–क्रियात्मक विकास की परिभाषायें
  2.2.2 मनो–क्रियात्मक विकास की अवस्थायें
  2.2.3 मनो–क्रियात्मक विकास की विशेषतायें
  2.2.4 मनो–क्रियात्मक विकास का महत्व
2.3 मनो–सामाजिक विकास
  2.3.1 मनो–सामाजिक विकास की अर्थवत्ता एवं विशिष्टता
  2.3.2 मनो–सामाजिक विकास के विविध स्वरूप
  2.3.3 मनो–सामाजिक विकास का महत्व
2.4 निष्कर्ष
2.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.6 सारांश
2.7 मुख्य शब्दावली
2.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 3 मानव समाजीकरण में आनुवंशिकता एवं पर्यावरण **67–96**

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 मानव समाजीकरण
  3.2.1 मानव समाजीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएं
  3.2.2 मानव समाजीकरण की विशिष्टताएं
  3.2.3 मानव समाजीकरण की अवस्थाएं एवं महत्ता
3.3 आनुवंशिकता एवं पर्यावरण
  3.3.1 आनुवंशिकता : अर्थवत्ता एवं व्यक्तित्व–विकास में भूमिका
  3.3.2 पर्यावरण का अर्थ
  3.3.3 व्यक्तित्व विकास में पर्यावरण का प्रभाव
  3.3.4 बालक के लालन–पालन अभ्यास व व्यक्तित्व–विकास में समाजीकरण की भूमिका
3.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.5 सारांश
3.6 मुख्य शब्दावली
3.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.8 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 व्यक्तित्व विकास के सिद्धांत **97–128**

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 व्यक्तित्व की अवधारणा
  4.2.1 व्यक्तित्व का अर्थ एवं परिभाषाएँ
  4.2.2 व्यक्तित्व की विशेषतायें
  4.2.3 व्यक्तित्व के प्रकार
4.3 व्यक्तित्व का मनो–गतिशील सिद्धांत
  4.3.1 सिगमण्ड फ्रायड का व्यक्तित्व सम्बन्धित 'मनोविश्लेषणात्मक' सिद्धान्त
  4.3.2 अल्फ्रेड एडलर का सिद्धांत
  4.3.3 कूले का व्यक्तित्व सम्बन्धी सिद्धान्त
  4.3.4 आटो रैंक का व्यक्तित्व का सिद्धान्त
  4.3.5 कार्ल युंग का सिद्धांत
4.4 व्यवहार का सिद्धांत
4.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.6 सारांश
4.7 मुख्य शब्दावली
4.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 5 बुद्धि–लब्धि तथा भावनात्मक–लब्धि **129–151**

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 बुद्धि का अर्थ एवं परिभाषाएं
  5.2.1 बुद्धि के खण्ड या कारक का सिद्धांत
  5.2.2 एक–खण्ड या कारक का सिद्धांत (बिने, टर्मन, स्टर्न)

5.2.3 दो–खण्ड या कारक का सिद्धांत (चार्ल्स स्पीयरमैन)
5.2.4 तीन–खण्ड या कारक का सिद्धांत (स्पीयरमैन)
5.2.5 बहु–खण्ड या कारक का सिद्धांत (कैली तथा थर्स्टन)
5.2.6 मात्रा का सिद्धांत (थार्नडाइक)
5.3 बुद्धि–लब्धि एवं बहु–बुद्धि
5.3.1 बुद्धि–लब्धि
5.3.2 मल्टीपल इंटेलिजेंस या बहु–बुद्धि
5.4 सामाजिक बुद्धि
5.4.1 सामाजिक बुद्धि क्या है?
5.4.2 सामाजिक बुद्धि के तत्व
5.4.3 सामाजिक बुद्धि का महत्व
5.5 भावनात्मक बुद्धि
5.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.7 सारांश
5.8 मुख्य शब्दावली
5.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.10 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक 'मानव वृद्धि एवं व्यक्तित्व विकास' का लेखन विश्वविद्यालय के एम. एस. डब्ल्यू. पूर्वार्द्ध पाठ्यक्रम के अनुरूप किया गया है। इस पुस्तक में मानव वृद्धि एवं व्यक्तित्व विकास की स्तरीय व्याख्या प्रस्तुत की गई है। बालक जब जन्म लेता है तब से लेकर जीवन समाप्त होने तक व्यक्तित्व का विकास होता रहता है, लेकिन वृद्धि एक ऐसी प्रक्रिया है जो एक समय के बाद रुक जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के जन्म के साथ मानव जीवन में वृद्धि होती है लेकिन कुछ वर्षों वाद वृद्धि परिलक्षित नहीं होती है जबकि मानव के व्यक्तित्व का विकास अनवरत होता रहता है। व्यक्ति हर समय कुछ न कुछ सीखता एवं अनुभव करता रहता है जो उसके व्यक्तित्व विकास के लिए उत्तरदायी होता है।

सामान्य रूप से विकास एवं वृद्धि शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में किया जाता है, लेकिन इन दोनों के वास्तविक अर्थ में अंतर होता है। वृद्धि का आशय आकार एवं विस्तार तथा जटिलता आदि के दृष्टिकोण से अविवृद्धि है। विकास का आशय व्यक्ति की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तित होना होता है। इस प्रकार वृद्धि का स्वरूप परिमाणात्मक एवं विकास का स्वरूप गुणात्मक होता है।

इस पुस्तक में पाठ्यक्रम निर्धारित सभी विषयों का सांगोपांग विवेचन किया गया है। विषय विवेचन से पूर्व प्रत्येक अध्याय में संदर्भित विषय का परिचय एवं उद्देश्य स्पष्ट कर दिया गया है। विद्यार्थियों के स्व–मूल्यांकन के लिए अध्याय के बीच–बीच में 'अपनी प्रगति जांचिए' कॉलम के तहत वैकल्पिक प्रश्न भी दिए गए हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए समूचे पाठ्यक्रम को पांच इकाइयों में समायोजित किया गया है। इन इकाइयों का विवरण इस प्रकार है–

प्रथम इकाई मानव वृद्धि व विकास से संबंधित है, जिसमें वृद्धि व विकास के सिद्धांतों एवं प्रकृति पर प्रकाश डाला गया है। इकाई के मध्य भाग में विकास के आयामों का वर्णन किया गया है। अन्त में विकासात्मक कार्यों के बारे में जानकारी प्रदान की गई है जिसमें बताया गया है कि व्यक्ति जब जन्म लेता है तो उसकी आवश्यकतायें बहुत कम होती हैं। व्यक्ति ज्यों–ज्यों बड़ा होता जाता है त्यो–त्यों उसकी आवश्यकतायें बड़ी होने लगती हैं, जिनको पूरा करने के लिए वह विकासात्मक कार्य करता है। यह क्रिया व्यक्ति के जीवन पर्यन्त चलती रहती है।

द्वितीय इकाई में क्रियात्मक एवं मनो–सामाजिक विकास के बारे में जानकारी प्रदान की गई है। क्रियात्मक विकास में विभिन्न क्रियात्मक योग्यताओं के विकास तथा कौशलों के विकास का अध्ययन किया जाता है। जब बच्चे का जन्म होता है तब वह असहाय तथा अन्य लोगों के अधीन होता है। उसे जिस भी अवस्था में छोड़ दिया जाता है उसी अवस्था में पड़ा रहता है। जब उसके नाड़ियों तथा मांसपेशियों का विकास होने लगता है तो इसके साथ ही गतिविधियों पर नियंत्रण भी होने लगता है। नाड़ियों तथा मांसपेशियों की क्रिया–विधियों को नियंत्रित करने वाली योग्यताओं को क्रियात्मक योग्यता कहते हैं। इकाई के अन्त में क्रियात्मक विकास की विशेषताओं का वर्णन भी किया गया है।

टिप्पणी

तृतीय इकाई में मानव समाजीकरण में वंशानुक्रम एवं पर्यावरण के प्रभाव बारे में चर्चा की गई है। आनुवंशिकता व्यक्तित्व का ऐसा गुण है जो उसे उसके माता–पिता एवं पूर्वजों से उसे प्राप्त होता है। अर्जित किये जाने वाले गुण उसके अपने अनुभव के आधार पर उसे प्राप्त होते हैं। इकाई के अंत में व्यक्तित्व को सांचे में ढ़ालने में पर्यावरण के प्रभाव का वर्णन किया गया है।

चतुर्थ इकाई में व्यक्तित्व विकास के सिद्धांतों पर प्रकाश डाला गया है। व्यक्तित्व शब्द ऐसा शब्द है जिससे किसी व्यक्ति की आंतरिक एवं वाह्य विशेषताओं के बारे में जानकारी हासिल की जा सकती है। इकाई में व्यक्तित्व की अवधारणा, अर्थ, परिभाषायें, विशेषतायें तथा व्यक्तित्व के प्रकारों का वर्णन किया गया है। अंत में व्यवहार के सिद्धांत पर भी प्रकाश डाला गया है।

पंचम इकाई में बुद्धि–लब्धि एवं भावनात्मक–लब्धि की विवेचना प्रस्तुत की गई है। बुद्धि की अर्थवत्ता स्पष्ट करते हुए इसमें बुद्धि–लब्धि, मल्टीपल इंटेलिजेंस या बहु–बुद्धि, सामाजिक बुद्धि, सामाजिक बुद्धि के तत्वों और भावनात्मक बुद्धि पर प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत पुस्तक निश्चय ही अध्येताओं के ज्ञान में वृद्धि करायेगी जिससे वे मानव वृद्धि व व्यक्तित्व–विकास को समझते हुए पुस्तक प्रदत्त ज्ञान को प्रयोग में ला सकेंगे।

इकाई 1 मानव वृद्धि एवं विकास

टिप्पणी

संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 वृद्धि और विकास की प्रकृति एवं सिद्धांत
  1.2.1 विकास का अर्थ
  1.2.2 विकास के सिद्धांत
  1.2.3 वृद्धि व विकास की प्रकृति
  1.2.4 वृद्धि तथा विकास के समन्वित सिद्धांत
1.3 विकास के आयाम
  1.3.1 शारीरिक विकास
  1.3.2 मानसिक विकास
  1.3.3 सामाजिक विकास
  1.3.4 संवेगात्मक विकास
1.4 विकासात्मक कार्य
  1.4.1 विकासात्मक कार्य की विशेषतायें
  1.4.2 अवस्था के अनुसार विकासात्मक कार्य
  1.4.3 विकासात्मक कार्य के प्रमुख स्वरूप
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1.0 परिचय

विकास मानव की एक ऐसी विशेषता है जिसका आरम्भ मां के गर्भाधान से ही हो जाता है तथा मानव के जीवन पर्यन्त चलता रहता है। कुछ विकास एक समय सीमा के बाद समाप्त हो जाते हैं जिसे बृद्धि कहा जाता है जबकि सामान्य विकास प्रकार्यात्मक स्वरूप का होता है जो निरंतर गतिमान रहता है।

प्रस्तुत इकाई में तीन भाग दिये गये हैं जिनमें प्रथम भाग में वृद्धि एवं विकास की प्रकृति व सिद्धांतों के बारे में बताया गया है।

इकाई के द्वितीय भाग में विकास के आयामों के बारे में चर्चा प्रस्तुत की गई है।

इकाई के अंतिम भाग अर्थात् तृतीय भाग में विकासात्मक कार्यों पर प्रकाश डाला गया है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- वृद्धि के अर्थ को समझ पाएंगे;
- विकास के अर्थ को जान पाएंगे;

टिप्पणी

- विकास के सिद्धांतों की जानकारी प्राप्त कर पाएंगे;
- वृद्धि एंव विकास की प्रकृति के बारे में जानकारी प्राप्त कर पाएंगे;
- वृद्धि एंव विकास के सिद्धांतों के बारे में ज्ञान प्राप्त कर पाएंगे;
- विकास के आयामों को समझ पाएंगे;
- विकासात्मक कार्यों की रूपरेखा बना पाएंगे।

1.2 वृद्धि और विकास की प्रकृति एवं सिद्धांत

मनुष्य का जब जन्म होता है तो उसकी शारीरिक रचना होती है, जिसकी कुछ लम्बाई व वजन होता है। बच्चे का जन्म यदि किसी अस्पताल में होता है तो उसके जन्म के समय अस्पताल के डाक्टर या नर्स द्वारा उस बच्चे का वजन व लम्बाई को किसी नोट पैड पर अंकित किया जाता है। हम सभी लोग जानते हैं कि वजन या तो पौण्ड में होता है या किलोग्राम में तथा लम्बाई सेंटीमीटर या मीटर में होती है। यह प्रक्रिया इसलिए की जाती है जिससे पता लगाया जा सके कि बच्चे का वजन और लम्बाई मानक वजन के अनुरूप है कि नहीं। यदि वजन व लम्बाई मानक के अनुरूप नहीं होती है तो बच्चे के बारे में कहा जाता है कि बच्चा कमजोर है। इसका तात्पर्य यह है कि बच्चे की बृद्धि सही तरीके से हुई है या नहीं इसके बारे में पता चल जाता है। इस प्रकार बच्चा जब जन्म लेता है तो उसकी देख–भाल उसका परिवार करता है। जन्म के बाद बच्चे की लम्बाई और वजन में परिवर्तन होने लगता है। अब जब बच्चा बड़ा होने लगता है तो उसकी लम्बाई, वजन, क्रियात्मक विकास, भाषा विकास, समाजिकता का विकास, संवेगों का विकास होने लगता है। यही विकास बृद्धि के रूप में माना जाता है। यूं कहे कि बच्चे की इस बढ़ोत्तरी को बृद्धि कहा जाता है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। मनोविज्ञान की विकासात्मक शाखा में बृद्धि और विकास दो ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग पर्यायवाची शब्दों के रूप में होता है लेकिन इन दोनों शब्दों में अन्तर होता है।

सम्पूर्ण जीवन काल में होने वाले दैहिक और भौतिक परिवर्तनों को वृद्धि कहते हैं। व्यक्ति में होने वाले परिवर्तन मात्रात्मक रूप में होते हैं तथा माता के गर्भ में गर्भाधान से लेकर लगभग बीस वर्ष की आयु तक दिखाई देते हैं। अर्थात् वृद्धि एक प्रकार से विकास को संकेतिक करती है। दूसरे अर्थों में कहा जाय तो, वृद्धि का आशय शारीरिक आकार में परिवर्तन से है, जो प्रायः गर्भाधान के दो सप्ताह के बाद आरम्भ हो जाती है। शरीर के आकार में होने वाला यह परिवर्तन लगभग बीस वर्ष की आयु तक चलता रहता है। यदि बीस वर्ष की आयु के बाद भी व्यक्ति के आकार में परिवर्तन होता रहता है तो वह मोटापे का संकेत है। इस समय व्यक्ति को अपने शरीर में होने वाले परिवर्तनों के बारे में सजग रहना चाहिए।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि गर्भाधान के पश्चात् से ही शिशु के आकार, वजन आदि में पोषाहार एवं उचित देखभाल से वृद्धि होने लगती है और वह शारीरिक परिपक्वता के स्तर को प्राप्त करने लगता है। इस प्रकार की शारीरिक वृद्धि केवल

मानवों में ही नहीं पाई जाती है, बल्कि संसार में जितने भी प्राणी होते हैं सभी में शारीरिक वृद्धि पाई जाती है। अतः वृद्धि की प्रकृति सार्वभौमिक होती है। सार्वभौमिकता को स्पष्ट करते हुए गेसेल ने कहा है कि, ''वृद्धि एक ऐसी जटिल एवं संवेदनशील प्रक्रिया है जिसमें प्रबल स्थितरता लाने वाले कारक केवल बाहरी न होकर आंतरिक भी होते हैं, जो बालकों के प्रतिरूप तथा उसकी वृद्धि की दिशा में संतुलन बनाये रखते हैं।'' वृद्धि के बारे में प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रैन्क कहते हैं कि, ''शरीर और व्यवहार के किसी विशेष पहलू में जो परिवर्तन होते हैं, उन्हें वृद्धि कहते हैं।''

टिप्पणी

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वृद्धि की अवधारणा

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से वृद्धि की अवधारणा को हम निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से समझ सकते हैं–

1. **आंतरिक प्रक्रिया** : वृद्धि एक आंतरिक प्रक्रिया है। अर्नाल्ड कहते हैं कि वृद्धि वातावरण की अपेक्षा जीव की कार्य प्रणाली है। वातावरण विकास के लिए परिवेश उपलब्ध कराता है, लेकिन ये स्वाभाविक आंतरिक संतुलन और वृद्धि, इतनी जटिल और संवेदनशील होती है कि इसके लिए पूर्ण ढ़ांचे का आंतरिक संतुलन और वृद्धि की दिशा आवश्यक है।
2. **आंतरिक परिवर्तन** : वृद्धि का आशय है, मानव शरीर में होने वाले आंतरिक परिवर्तन अर्थात् मांस पेशियों का बढ़ना और शरीर के आंतरिक अंगों तथा इसकी आंतरिक जैविक प्रणाली के सामान्य आकार में वृद्धि।
3. **बाहरी परिवर्तन** : मनोविज्ञान में वृद्धि शब्द का प्रयोग पूर्ण रूप से शारीरिक अर्थ में किया जाता है। इसका तात्पर्य सामान्य आकार, लम्बाई और वजन में वृद्धि से होता है। अतः वृद्धि का संबंध परिमाणात्मक होता है।
4. **विकास परिणाम** : वृद्धि विकास का केवल एक भाग है। विकास के परिमाणात्मक व गुणात्मक दोनों पहलू होते हैं। विकास के परिमाणात्मक पहलू को वृद्धि कहते हैं।
5. **मापन योग्य** : वृद्धि का मापन किया जा सकता है तथा यह व्यवहार में देखी और आंकी जा सकती है।
6. **अनेक कारकों पर निर्भर** : वृद्धि एक एकीकृत करने वाला शब्द है। यह कई कारकों की अन्तःक्रिया पर निर्भर होती है, जैसे, शिक्षा, पर्यावरण, ग्रंथि का रसाश्रावण और स्वास्थ्य।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सामान्य रूप से वृद्धि का तात्पर्य शरीर और उसके अंगों के आकार, वजन, ऊंचाई या लम्बाई में वृद्धि से लगाया जाता है।

1.2.1 विकास का अर्थ

विकास का अर्थ बहुत ही व्यापक है। मानव जीवन में शुरूवात से ही विभिन्न प्रकार के गुणात्मक परिवर्तन होते रहते हैं तथा इन परिवर्तनों का होना जीवन भर चलता रहता है। इन्हीं निरन्तर होने वाले परिवर्तनों का नाम विकास है। मानव जीवन की

टिप्पणी

विभिन्न अवस्थाओं के अन्तर्गत होने वाले सभी गुणात्मक परिवर्तन मानव विकास के अन्तर्गत आते हैं। विकास का यह क्रम निरंतर आबाध गति से चलता रहता है। विकास के क्रम में नयी विशेषताओं का समावेश होता है तथा पुरानी विशेषतायें समाप्त होती जाती हैं। समाज मनोवैज्ञानिकों ने मानव में होने वाले इन्हीं परिवर्तनों, गुणों तथा विशेषताओं के क्रमिक एवं नियमित उत्पत्ति को विकास कहा है। अतः विकास का अर्थ कार्यकुशलता और व्यवहार में होने वाली प्रगति से लगाया जाता है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में विकास का अर्थ वृद्धि अर्थात् शारीरिक आकार एवं अंगों में परिवर्तन होना नहीं है, इसका आशय व्यक्ति में नयी विशेषताओं एवं कार्यक्षमताओं का विकास होने से है जो कि प्रारम्भिक जीवन से आरम्भ होकर परिपक्वता अवधि तक चलती रहती है।

हरलाक के अनुसार, ''विकास वृद्धि तक ही सीमित नहीं है, इसके अतिरिक्त इसमें परिपक्वता के लक्ष्य की ओर परिवर्तनों का प्रगतिशील क्रम निहित रहता है। विकास के फलस्वरूप व्यक्ति में नयी विशेषतायें और नयी योग्यतायें प्रकट होती हैं।''

हरलाक की इस परिभाषा से तीन प्रमुख बातें स्पष्ट होती हैं–

1. विकास परिवर्तन की ओर संकेत करता है।
2. विकास में एक निश्चित क्रम होता है।
3. विकास की एक निश्चित दिशा व लक्ष्य होता है।

हरलाक का यह भी विचार है कि विकास की प्रक्रिया जीवन भर एक क्रम में चलती रहती है और प्रत्येक अवस्था का प्रभाव विकास की दूसरी अवस्था तक पड़ता रहता है।

विकास को परिभाषित करते हुए स्टैट कहते हैं कि, ''विकास समय के साथ होने वाला परिवर्तन है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसको प्रतिफलों के अध्ययन द्वारा समझा जा सकता है।''

विकास को परिभाषित करते हुए गैसेल लिखते हैं कि, ''विकास केवल एक विचार ही नहीं है, इसे देखा, जांचा और किसी सीमा तक तीन विभिन्न दिशाओं–शरीर अंग विश्लेषण, शरीर ज्ञान तथा व्यवहारात्मकता में मापा जा सकता है। इन सबमें व्यवहार ही सबसे अधिक विकासात्मक स्तर तथा विकासात्मक शक्तियों को व्यक्त करने का माध्यम है।''

मैरीडिथ ने विकास को परिभाषित करते हुए लिखा है कि, ''कुछ लेखक वृद्धि का प्रयोग केवल आकार की वृद्धि के अर्थ में करते हैं और विकास को भेदीकरण या विशिष्टीकरण के अर्थ में।''

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि विकास प्रगतिशील परिवर्तन की एक प्रक्रिया है जो नियमित गति से चलती रहती है तथा इसकी दिशा अग्रगामी होती है। विकास का संबंध व्यक्ति के अभियोजन की क्रियाओं में उन्नतिशील परिवर्तनों के घटित होने से है। अर्थात्, विकास के द्वारा जो परिवर्तन दिखाई देता है वह व्यक्ति की पिछली अवस्था से आगे आने वाली अवस्था की ओर प्रगतिशील होता है। जैसे जन्म के समय कोई बच्चा बिल्कुल असहाय होता है, तो वह विकास के क्रम

में प्रत्येक क्रियाओं को करने लगता है तथा उठने–बैठने, चलने–फिरने, दौड़ने–भागने इत्यादि में पूर्ण रूप से सक्षम हो जाता है।

हरलाक ने अपने द्वारा प्रदान की गई परिभाषा में विकास में होने वाले परिवर्तनों में क्रमिकता की बात कही है, क्योंकि इसके अन्तर्गत आने वाले सभी परिवर्तन एक के बाद एक घटित होते हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी बच्चे में गतिक विकास होता है तो सबसे पहले वह रेंगने की कोशिश करता है उसके बाद वह खिसकने की कोशिश करता है तथा उसके बाद बैठने की कोशिश करता तत्पश्चात् वह चलना शुरू करता है। ऐसा नहीं है कि वह पहले बैठने लगता है और चलने की कोशिश करता उसके बाद रेंगने की कोशिश करता है। इसमें एक के बाद एक क्रिया क्रमिक रूप से चलती है। इसका तात्पर्य यह है कि विकास का एक निश्चित क्रम होता है जिसका अनुसरण उस अवस्था विशेष के सभी बच्चों द्वारा किया जाता है।

टिप्पणी

1.2.2 विकास के सिद्धांत

बालक के विकास की प्रकिया उसके गर्भ में आने से ही आरंभ हो जाती है और उस समय तक चलती रहती है जब त कवह प्रौढ़ता को प्राप्त नहीं कर लेता है। मुनरो ने लिखा है कि, ''विकास परिवर्तन श्रृंखला की वह अवस्था है जिसमें बालक भ्रूणावस्था से प्रौढ़ावस्था तक गुजरता है।''

गैरीसन और अन्य के मतानुसार, ''जब बालक विकास की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में प्रवेश करता है तब हम उसमें कुछ परिवर्तन देखते हैं। अध्ययनों ने यह सिद्ध कर दिया है कि इन परिवर्तनों में पर्याप्त निश्चित सिद्धांतों का अनुसरण करने की प्रवृत्ति होती है। इन्हीं को विकास का सिद्धांत कहा जाता है।''

बाल विकास की प्रक्रिया किन्हीं निश्चित सिद्धांतों से नियंत्रित होती है। प्रमुख सिद्धांत निम्नांकित हैं–

1. **निश्चित दिशा का सिद्धांत** : विकास की निश्चित दिशा से अभिप्राय विकास की प्रकृति से है। विकास सामान्य से विशेष की तरफ बढ़ता है। विकास के सभी विभागों में, चाहें वे क्रियात्मक हों या मानसिक, शुरू में बालक की अनुक्रियायें सामान्य होती हैं, फिर भी वे विशेष की ओर अग्रसर होती हैं। उदाहरणार्थ, बच्चा पहले हाथों से चलता है उसके बाद हाथों कि सहायता से विशेष कार्यों को करना सीखता है। कहने का आशय यह है कि विकास की एक निश्चित दिशा होती है जो कि सामान्य से विशेष की ओर उन्मुख होती है।
2. **निरन्तर विकास का सिद्धांत** : गर्भाधान के समय से लेकर परिपक्वता के समय तक विकास निरन्तर गति से चलता रहता है। किसी समय इसकी गति तीव्र होती है और किसी समय मन्द। मानसिक व शारीरिक दोनों प्रकार के गुणों का विकास प्रौढ़वस्था तक अपनी अधिकतम सीमा से निरन्तर होता रहता है। चूंकि निरन्तर विकास होता रहता है, अतः एक अवस्था का प्रभाव दूसरी अवस्था पर पड़ता है।
3. **व्यक्तिगत विभिन्नता का सिद्धांत** : इसके अनुसार विकास वैयक्तिक गुणों और मानसिक गुणों के आधार पर होता है। प्रत्येक बालक के विकास का अपना

टिप्पणी

निजी रूप होता है। एक ही उम्र के प्रत्येक बालक और बालिका के शारीरिक, मानसिक और संवेगात्मक विकास में स्पष्ट रूप से भिन्नता पाई जाती है।

4. **विकास क्रम का सिद्धांत** : बालक का विकास एक निश्चित क्रम से होता है। बालक के क्रियात्मक विकास और भाषा संबंधी विकास में एक क्रम पाया जाता है।

5. **सह–संबंध का सिद्धांत** : बालक के शारीरिक, मानसिक तथा संवेगात्मक विकास में सह–संबंध पाया जाता है। शारीरिक विकास के साथ ही उसकी रूचि, ध्यान और व्यवहार में परिवर्तन होता जाता है और इस तरह उसका क्रियात्मक विकास और भाषा विकास होता है। शारीरिक विकास, बौद्धिक विकास को प्रभावित करता है।

6. **समान प्रतिमान का सिद्धांत** : इसके अनुसार, प्रत्येक जाति अपनी जाति के अनुरूप विकास के प्रतिमान का अनुसरण करती है। मानव जाति के बालकों के विकास का प्रतिमान समस्त संसार में एक ही है और उसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता। बालक चाहे किसी देश में जन्म लिया हो उसका शारीरिक, मानसिक, भाषा, गति और संवेगात्मक विकास सामान्य रूप से होता है।

7. **वंशानुक्रम एवं पर्यावरण में अन्तःक्रिया का सिद्धांत** : बालक का विकास वंशानुक्रम एवं पर्यावरण की अन्तःक्रिया के फलस्वरूप होता है। स्किनर ने लिखा है कि, ''वंशानुक्रम उन सीमाओं को निश्चित करता है, जिनके आगे बालक का विकास नहीं किया जा सकता है।'' इसी प्रकार यह प्रमाणित किया जा चुका है कि जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में दूषित वातावरण, गम्भीर रोग, जन्मजात योग्यताओं को कुंठित या कमजोर बना सकता है।

8. **सामान्य से विशिष्ट प्रतिक्रियाओं का सिद्धांत** : विकास के सभी पक्षों में बालक पहल सामान्य प्रतिक्रिया के रूप में व्यक्ति भी करता है और तत्पश्चात् विशिष्ट प्रतिक्रिया की ओर अग्रसर होता है। नवजात शिशु पहले अपने सम्पूर्ण शरीर का संचालन करता है और उसके बाद किसी विशेष अंग का संचालन करता है। किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए पहले सामान्यतः वह केवल हाथ ही नहीं बढ़ाता है बल्कि अन्य अंगों को भी हिलाता है, लेकिन धीर–धीरे उसे प्राप्त करने के लिए वह विशिष्ट रूप से हाथ बढ़ाता है।

1.2.3 वृद्धि व विकास की प्रकृति

वृद्धि व विकास की प्रकृति को निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से समझा जा सकता है–

1. **वृद्धि व विकास का पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयोग किया जाता है** : वृद्धि और विकास को अक्सर पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयोग किया जाता है। लेकिन वृद्धि, विकास से अलग होती है। वृद्धि का आशय आकार, भार, लम्बाई आदि से लगाया जा सकता है जबकि विकास का आशय आकार, रूप या संरचना में परिवर्तन से है, जिसके फलस्वरूप कार्य–कलापों में बेहतर सुधार होता है। यहां बेहतर कार्य प्रणाली से आशय परिपक्वता की ओर ले जाने वाले कुछ गुणात्मक परिवर्तनों से है।

टिप्पणी

2. **वृद्धि सेलुलर है, जबकि विकास संगठनात्मक होता है** : फ्रैंक जे., वृद्धि और विकास के बीच के अन्तर करते हुए कहते हैं कि, वृद्धि को कोशिकीय गुणन के रूप में देखा जा सकता है, और विकास को उन सभी भागों के संगठन के रूप में देखा जा सकता है जो विकास संबंधित भेदभाव ने उत्पन्न किये हैं। इस प्रकार वृद्धि शरीर के विशेष पहलुओं में परिवर्तन को संदर्भित करती है तथा विकास समग्र रूप से संगठन का अर्थ हो सकता है।

3. **वृद्धि रुक जाती है, जबकि विकास प्रगतिशील है** : वृद्धि जीवन भर जारी नहीं रहती है। यह एक निश्चित आयु तक होती है उसके बाद यह रूक जाती है। लेकिन दूसरी तरफ विकास का अर्थ जीवन भर परिवर्तनों की एक प्रगतिशील श्रृखला से है। परिपक्वता आ जाने पर वृद्धि रूक जाती है जबकि विकास निरंतर चलता रहता है।

4. **वृद्धि में शारीरिक परिवर्तन अन्तर्निहित हैं, जबकि विकास में परिपक्वता अन्तर्निहित है** : शरीर में होने वाले परिवर्तनों को निर्दिष्ट करने के लिए वृद्धि शब्द का प्रयोग किया जाता है। एल. एच. स्कॉट के शब्दों में, ''शरीर के विभिन्न भागों में वृद्धि की दर समान नहीं है, या तो पूर्ण या सापेक्ष अर्थ में, वृद्धि में आवश्यक रूप से शरीर के अनुपात के साथ–साथ समग्र कद और वजन में परिवर्तन अन्तर्निहित है। विकास एक प्राणी में उसके जन्म से उसकी मृत्यु तक परिवर्तन का प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन अधिक विशेष रूप से प्रगतिशील या गैर–जरूरी होने वाले परिवर्तन उत्पत्ति से परिपक्वता तक होते रहते हैं।'' अतः विकास, परिपक्वता के लक्ष्य की ओर प्रवृत्त एक व्यवस्थित, सुसंगत प्रकार के परिवर्तनों की एक प्रगतिशील श्रृंखला है।

5. **वृद्धि व विकास आनुवंशिकता और पर्यावरण के संयुक्त उत्पाद होते हैं** : एक बालक अपने विकास के किसी स्तर पर कुछ आनुवंशिकता रखता है और वह अपने पर्यावरण से भी प्रभावित होता है। बालक अपने माता–पिता से जो प्राप्त करता है और जो वह अपने पर्यावरण के साथ साझा करता है, वह उसके व्यक्तित्व को भी आकार प्रदान करता है। उसकी वृद्धि व विकास किसी भी समय, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, आनुवंशिकता और वातावरण की ताकतों से प्रभावित होता है।

6. **वृद्धि व विकास साथ–साथ चलते हैं** : वृद्धि व विकास साथ–साथ चलते हैं। वृद्धि के बिना विकास का अस्तित्व नहीं है। जैसे, जब शरीर संरचना में वृद्धि या बढ़ोत्तरी होती है तो यह कार्य के रूप में भी परिणत होता है, जो विकास का रूपक है। अर्थात् वृद्धि विकास में सहायक होती है। परन्तु यह हमेशा नहीं होता है। बच्चा में मोटापा होने लगता है तो इसके साथ किसी भी प्रकार का कार्यात्मक सुधार या विकास नहीं हो सकता है। बच्चे के आकार, ऊचाई तथा वजन में वृद्धि शारीरिक या संवेदी चालन संबंधी गतिविधि में किसी प्रकार की सुधार का संकेत नहीं दे सकती है। सामान्य रूप से वृद्धि जब रूक जाती है तो भी बौद्धिक, भावनात्मक और सामाजिक विकास अनवरत जारी रहता है। विकास परिवर्तनों की एक प्रगतिशील श्रृंखला का गठन करता है। प्रगतिशील होने का तात्पर्य यह है कि विकास प्रगतिगामी दिशा के रूप में होता है। यह

पीछे जाने की बजाय हमेशा आगे की तरफ बढ़ता है, जिससे प्रणाली में अधिक भिन्नता और जटिलता होती है। परिणामस्वरूप प्राणी अधिक कार्यकुशल होता है।

टिप्पणी

चूंकि वृद्धि व विकास के शब्दों में अंतर किया गया है फिर भी व्यापक अर्थों में वृद्धि व विकास को पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। ऐसा अक्सर शिक्षा के क्षेत्र में किया जाता है।

1.2.4 वृद्धि तथा विकास के समन्वित सिद्धांत

वृद्धि व विकास बेतरतीब तरीके से नहीं होता है। ये कुछ सिद्धांतों का का अनुसरण करते हैं जो कुछ प्रक्रिया के अन्तर्गत आते हैं तथा जिन्हें सभी प्राणियों में देखा जा सकता है। क्रो तथा क्रो के अनुसार, 'वृद्धि संरचनात्मक और शारीरिक परिवर्तन को संदर्भित करता है, जबकि विकास का आशय वृद्धि के साथ–साथ व्यवहार में होने वाले परिवर्तनों से है, जो पर्यावरणीय उत्तेजना के परिणाम स्वरूप होता है। वृद्धि आम तौर पर आकार, लम्बाई और वनज में वृद्धि को संदर्भित करती है जबकि विकास समग्र रूप से जीव में परिवर्तन को संदर्भित करता है। वृद्धि को मापा जा सकता है और विकास को देखा जा सकता है। परिपक्वता पर वृद्धि रूक जाती है जबकि विकास निरंतर जीवन भर होता रहता है। वृद्धि मात्रात्मक है जबकि विकास मात्रात्मक व गुणात्मक दोनों ही होता है। वृद्धि एकीकरण विभेदन की जुड़वां प्रक्रिया के माध्यम से होती है जबकि विकास एक व्यापक प्रक्रिया है, लेकिन वृद्धि इसका केवल एक हिस्सा है।

हम देखते हैं कि वृद्धि कुछ समय अन्तराल के बाद रूक जाती है जबकि विकास की गति निरंतर चलती रहती है। वृद्धि व विकास से संबंधित कुछ समन्वित सिद्धांत अग्रलिखित रूप से प्रस्तुत हैं–

1. **निरंतरता** : वृद्धि और विकास की प्रक्रिया गर्भाधान से लेकर व्यक्ति के परिपक्वता तक पहुंचने तक जारी रहती है। शारीरिक और मानसिक दोनों लक्षणों का विकास धीरे–धीरे तब तक चलता रहता है जब तक कि ये लक्षण अपनी अधिकतम वृद्धि तक नहीं पहुंच जाते। यह जीवन भर निरंतर चलता रहता है। परिपक्वता की अवधि प्राप्त होने के बाद भी विकास समाप्त नहीं होता है। जबकि वृद्धि विकास के अन्तर्गत समाहित होती है। सभी वृद्धि विकास का रूप हो सकती हैं लेकिन सभी विकास वृद्धि नहीं हो सकते।
2. **क्रमिकता** : विकास की प्रक्रिया क्रमिक होती है। एक बालक पहले पेट के बल घिसकना सीखता है उसके बाद वह पैरों पर चलना सिखता है। यह सब अचानक नहीं आता है। यह प्रकृति में संचयी भी है। जबकि वृद्धि में शरीर के विभिन्न भागों में वृद्धि की दर समान नहीं है, या तो पूर्ण या सापेक्ष अर्थ में, वृद्धि में आवश्यक रूप से शरीर के अनुपात के साथ–साथ समग्र कद और वजन में परिवर्तन अन्तर्निहित है।

टिप्पणी

3. **समानता** : मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार विकास क्रमिक होता है या क्रमबद्ध होता है। प्रत्येक प्राणी, चाहे पशु हो या मानव, विकास के एक विशिष्ट पैटर्न का अनुसरण करता है। सामान्य तौर पर यह पैटर्न सभी व्यक्तियों के लिए समान होता है। बालक खड़ा होने से पहले रेंगता है, चलने से पहले खड़ा होता है और बात करने से पहले बड़बडाता है। वृद्धि में शारीरिक लम्बाई, वजन इत्यादि में परिवर्तन होते हैं।

4. **व्यक्ति–दर–व्यक्ति भिन्नता** : विकास की दर एक समान नहीं होती है। व्यक्ति की वृद्धि और विकास की दर अलग–अलग व्यक्तियों में भिन्न–भिन्न होती है। शरीर के प्रत्येक अंग की वृद्धि की अपनी विशिष्ट दर होती है।

5. **सामान्य से विशिष्ट की ओर** : विकास के सभी क्षेत्रों में, सामान्य गतिविधि हमेशा विशिष्ट गतिविधि से पहले होती है। जैसे, भ्रूण अपने पूरे शरीर को हिलाता है लेकिन विशिष्ट प्रतिक्रिया करने में असमर्थ होता है। भावनात्मक व्यवहार के संबंध में, शिशु किसी प्रकार की सामान्य भय–प्रतिक्रिया के साथ अजीब और असामान्य वस्तुओं के पास जाते हैं। बाद में उनका डर और अधिक विशिष्ट हो जाता है और विभिन्न प्रकार के व्यवहारों को जन्म देता है, जैसे, रोना, मुड़ना और छिपना आदि। जबकि वृद्धि गर्भावस्था के दौरान शिशुओं में शारीरिक होती है।

6. **सहसंबद्ध लक्षण** : सामान्यतः देखा गया है कि जिस बच्चे का मानसिक विकास औसत से अधिक होता है, वह स्वस्थ, सामाजिक और विशेष योग्यता जैसे कई अन्य पहलुओं में श्रेष्ठ होता है। जबकि वृद्धि में से सब नहीं होता है। वृद्धि में अनुभवशीलता का उपयोग होता है।

7. **आनुवंशिकता और पर्यावरण दोनों का एक उत्पाद** : वृद्धि और विकास दोनों आनुवंशिकता और पर्यावरण से प्रभावित होते हैं। दोनों मानव के विकास व वृद्धि दोनों के लिए उत्तरदायी हैं।

8. **अनुमानित बनाम अवलोकनीय** : शारीरिक और मनोवैज्ञानिक क्षमताओं में अन्तर 'अवलोकन और मनोवैज्ञानिक परीक्षणों के द्वारा अनुमानित किया जा सकता है; जबकि वृद्धि को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

9. **संरचनात्मकता और कार्यात्मकता** : विकास संरचनात्मक और कार्यात्मक परिवर्तन लाता है जबकि वृद्धि संरचनात्मक परिवर्तन लाती है। वृद्धि संरचना में परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होती है।

10. **कारकों के बीच संपर्क की निरंतरता** : एक क्षेत्र में विकास दूसरे क्षेत्रों में विकास से अधिक संबंधित है। जैसे, एक बालक जिसका स्वास्थ्य अच्छा है वह सामाजिक और बौद्धिक रूप से सक्रिय हो सकता है। जबकि वृद्धि एक समयान्तराल के बाद रूक जाती है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

1. बुद्धि के संबंध में कौन–सा कथन सत्य है?
   (क) बुद्धि का मापन संभव है।
   (ख) बुद्धि को व्यवहार में देखा जा सकता है।
   (ग) बुद्धि आंकी जा सकती है।
   (घ) पूर्वोक्त सभी।
2. बालक को भ्रूणावस्था से प्रौढ़ावस्था तक गुजारने वाली परिवर्तन–श्रृंखला की अवस्था कहकर 'विकास' को किसने परिभाषित किया?
   (क) हरलाल (ख) मुनरो
   (ग) गैसेल (घ) मैरीडिय

1.3 विकास के आयाम

व्यक्ति के जीवन के विकास के आयामों को हम निम्नलिखित रूपों में विभाजित कर सकते हैं–

1. शारीरिक विकास–
2. मानसिक विकास।
3. सामाजिक विकास।
4. संवेगात्मक विकास।

विकास के इन चारों आयामों का व्यक्ति की जीवन–प्रक्रिया में विशेष महत्व है तथा इनका परस्पर एक–दूसरे से घनिष्ठ संबंध है। प्रत्येक अवस्था के विकास के आयामों पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न अवस्थाओं में किस पक्ष का विकास कितनी मात्रा में किस तरफ होता है। अतः इन चारों आयामों की मुख्य बातों पर प्रकाश डालना आवश्यक है–

1.3.1 शारीरिक विकास

किसी व्यक्ति के शैक्षिक विकास में शारीरिक विकास का महत्वपूर्ण स्थान होता है। बच्चे के व्यवहार में जो भी परिवर्तन आते हैं वे सभी परिवर्तन व्यक्ति के शारीरिक विकास के कारण प्रभावित होते हैं। अतः व्यक्ति के व्यवहार को शारीरिक विकास प्रभावित करता है। बहुत से विद्वानों का मानना है कि शारीरिक विकास व्यक्ति के निम्नांकित चार प्रमुख क्षेत्रों को प्रभावित करता हैः–

(अ) स्नायुमण्डल : बच्चे के स्नायुमण्डल के विकास के साथ ही साथ बुद्धि का विकास भी होता है जो बच्चे के व्यवहारों में परिवर्तन करता है। बच्चे का संवेगात्मक व्यवहार उसकी विभिन्न परिस्थितियों को समझने की योग्यता से गहनतापूर्वक संबंधित है। बच्चा जिस सामाजिक अनुमोदन का आनंद प्राप्त

करता है वह भी दूसरे के विचारों, भावों एवं संवेगों को समझने की उसकी योग्यता से संबंधित है।

टिप्पणी

(ब) मांसपेशियों में वृद्धि : बच्चे की मांसपेशियों के विकास के साथ ही साथ उसकी क्रियात्मक और शारीरिक शक्ति का भी विकास होता है जो बच्चे की क्रियाशीलता तथा उन क्रियाओं में दिखलाई देती है जो परिवर्तित होती रहती है। विकास की विभिन्न अवस्थाओं में बच्चे की खेल–कूद और व्यायाम आदि मांसपेशियों के विकास पर निर्भर होते हैं। इनका पांसपेशियों के विकास पर भी सकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

(स) अंतःस्रावी ग्रंथियां : किसी भी व्यक्ति में अंतःस्रावी ग्रंथियों के कार्यों में परिवर्तन के परिणामस्वरूप नये परिवर्तित व्यवहारों का प्रकाशन होता है।

(द) सम्पूर्ण शारीरिक ढ़ांचा : बच्चे के पूरे शरीर के ढ़ांचे में होने वाले परिवर्तनों जैसे, शारीरिक रचना, लम्बाई, वजन, शारीरिक अनुपात और सामान्य शारीरिक रूप इत्यादि उसके व्यवहार को प्रभावित करते हैं। बच्चे के शारीरिक विकास का संबंध उसके स्वास्थ्य से भी होता है। किसी भी बच्चे का संवेगात्मक विकास उसके स्वस्थ मन एवं स्वस्थ्य मस्तिष्क पर आधारित होता है। अतः स्पष्ट है कि शारीरिक विकास और स्वास्थ्य का व्यक्ति के व्यवहार पर अधिक प्रभाव पड़ता है।

शारीरिक विकास के अग्रलिखित नियम हैं–

(अ) मस्तिष्काधोमुखी विकास का नियम : यह नियम विकास की दिशा का नियम है। यह विकास की दिशा को इंगित करता है। इसके अनुसार गर्भ में शिशु का सिर पहले विकसित होता है, तत्पश्चात् धड़ और सबसे अंत में हाथ–पैरों का निर्माण व विकास होता है। जन्म के बाद भी शिशु के अंगों की विभिन्न क्रियायें इसी प्रकार होती हैं। पहले शिशु अपना सिर उठता है और फिर धड़ और उसके बाद में पैर।

(ब) विकास चक्र का नियम : इस नियम के अनुसार शिशु के शरीर का विकास समान गति से नहीं होता है। विभिन्न समाज मनोविज्ञानियों ने अपने अध्ययन के परिणामस्वरूप चार प्रमुंख चक्रों का वर्णन किया है, जो अग्रलिखित हैं–

(i) विकास का प्रथम चक्र दो वर्ष की आयु तक दिखाई देता है। इन दो वर्षों में शिशु के विकास की गति तीव्र होती है।

(ii) विकास का दूसरा चक्र दो से ग्यारह वर्ष की आयु तक का होता है जिसमें बच्चे के शारीरिक विकास की गति धीमी होती है।

(iii) विकास का तीसरा चक्र ग्यारह से पंद्रह वर्ष की आयु के मध्य का है। इस आयु काल में शारीरिक विकास तीव्र गति से होता है।

(iv) विकास का चौथा चक्र पंद्रह से अठ्ठारह वर्ष की आयु का होता है, जिसमें शारीरिक विकास की गति पुनः धीमी पड़ जाती है।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि विकास की गति समान नहीं रहती है। यह कभी तीव्र होती है तो कभी धीमी।

टिप्पणी

शारीरिक विकास और गति–प्रेरक विकास में संबंध

शारीरिक विकास के साथ–साथ गति का भी विकास होता है। गति विकास के अन्तर्गत चलना–फिरना, उठना–बैठना, वस्तुओं को उठाना–रखना, लिखना–पढ़ना तथा बोलना एवं खेलना इत्यादि क्रियायें आती हैं, जिनका अंगों की गति के बिना होना सम्भव नहीं है। गति विकास में प्रत्येक अंग को साधना पड़ता है तथा मांसपेशीय संगठन के द्वारा अंगों का प्रयोग सम्भव होता है। परिपक्वता के साथ–साथ अंगों के संचालन–शक्ति में वृद्धि होती है। शरीर क्रियात्मक विकास के अध्ययन में तंत्रिका–तंत्र, हृदय और परिसंचारी तंत्र, श्वसन तंत्र, पाचन तंत्र और मांसपेशियों तथा अंतःस्रावी ग्रंथियों का अध्ययन होता है।

1.3.2 मानसिक विकास

नवजात शिशु की उम्र एवं अनुभव में वृद्धि के साथ ही साथ उसका मानसिक विकास भी होता है। वास्तव में मानसिक विकास का आशय शिशु की समझ से होता है। जब शिशु अपने निकट के पर्यावरण को समझना आरम्भ करता है और उससे अपने को संबंधित करता है तब उसका मानसिक विकास शुरू होता है। शिशु की सम्पूर्ण मानसिक क्रियाओं का संबंध उसके मानसिक विकास से होता है। व्यक्ति की मानसिक क्रियाओं में संवेदन और प्रत्यक्ष ज्ञान, चिंतन और तर्क, स्मृति और कल्पना का महत्वपूर्ण स्थान है।

मानसिक विकास का तात्पर्य, मानसिक शक्ति का उदय होना, उसका पुष्ट होना और फिर अपनी चरम सीमा पर पहुँचना है। शिशु जन्म के समय निरर्थक अनुभूतियों का पुंज मात्र होता है। वह शनैः–शनैः अपनी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करना सीखता है। परिणामस्वरूप, उसके व्यवहार में शनैः–शनैः परिवर्तन होने लगता है। इस परिवर्तन को ही ''मानसिक विकास'' कहा जाता है।

मानसिक विकास की अवस्थायें : मानसिक विकास की अग्रलिखित तीन अवस्थायें होती हैं–

(i) सहज क्रियाओं की अवस्था

इस अवस्था में व्यक्ति के व्यवहार में सहज क्रिया की प्रधानता होती है। मानसिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में व्यक्ति इन सहज क्रियाओं पर धीरे–धीरे नियन्त्रण प्राप्त करने लगता है।

(ii) इच्छित क्रियाओं की अवस्था

इस अवस्था में बच्चे तुरन्त कोई प्रतिक्रिया नहीं दिखाते हैं, बल्कि वे कुछ सोचते–समझते हैं तत्पश्चात् अपनी कोई प्रतिक्रिया देते हैं। इस अवस्था में बच्चे का व्यवहार इच्छित क्रियाओं द्वारा नियंत्रित होता है।

(iii) सोद्देश्य क्रियाओं की अवस्था

ये क्रियायें कल्पित उत्तेजनाओं की प्रतिक्रियायें होती हैं। ये भविष्य के परिणामों को ध्यान में रखकर की जाती हैं। जब मानसिक विकास की पूर्णावस्था होती है तभी इस अवस्था की क्रिया सम्पन्न होती है।

मानसिक विकास के पक्ष : मनोवैज्ञानिकों ने मानसिक विकास के अन्तर्गत निम्नलिखित योग्यताओं और मन की क्रियाओं को स्थान प्रदान किया है–

टिप्पणी

1. संवेदन।
2. प्रत्यक्षीकरण।
3. निरीक्षण।
4. ध्यान या अवधान।
5. स्मरण और विस्मरण।
6. परिकल्पना।
7. चिन्तन।
8. सीखना।
9. तर्क।
10. निर्णय।
11. बुद्धि।
12. भाषा।
13. रूचि।
14. अभिवृत्ति।

1.3.3 सामाजिक विकास

व्यक्ति के जीवन में वैयक्तिकता तथा समाजिकता के गुणों का समावेश होता है। इन दोनों गुणों का समावेश एक–दूसरे के पूरक के रूप में होता है। कोई भी बालक जन्म से सामाजिक नहीं होता है। वह समाज में आकर समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा समायोजन करना सीखता है जिसके आधार पर वह सामाजिक प्राणी कहलाने के योग्य बनता है। व्यक्ति के जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में समाजीकरण की प्रक्रिया महत्वपूर्ण है। अन्य प्रकार के विकास की तरह ही सामाजिक विकास में भी कुशल निर्देशन एवं निरीक्षण की आवश्यकता होती है। इसकी कमी होने पर व्यक्ति समाज में अपना समायोजन नहीं कर पाता है।

समाज में अपने तथा अन्य व्यक्तियों के साथ मित्रता तथा सम्पर्क स्थापित करना ही सामाजिक विकास कहलाता है। समाजिक विकास का वास्तविक अर्थ है, मनुष्य की रूचियों, आदतों का परिपक्व होना। व्यक्ति अपनी आयु के विपरीत कार्य करता है तो हम उसका सामाजिक विकास अपरिपक्व कह सकते है। सामाजिक विकास की दृष्टि से व्यक्ति एक–दूसरे का सहयोगी होता है। इसलिए शिक्षा को सामाजिकता की प्रक्रिया कहा जाता है। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि सामाजिक विकास का अर्थ बालक का समाजीकरण करना है। हरलॉक ने लिखा है कि, ''सामाजिक विकास का अर्थ सामाजिक संबंधों में परिपक्वता प्राप्त करना है।''

टिप्पणी

रॉस ने सामाजिक विकास के संबंध में कहा है कि, ''सहयोग करने वाले व्यक्तियों में 'हम भावना' का विकास और उनके साथ काम करने की क्षमता का विकास और संकल्प समाजीकरण कहलाता है।''

सोरेन्सन ने सामाजिक विकास के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है कि, ''सामाजिक अभिवृद्धि और विकास का आशय है अपनी और दूसरों की उन्नति के लिए, योग्यता, और वृद्धि।''

सामाजिक विकास को प्रभावित करने वाले तत्व

सामाजिक विकास को निम्न तत्व प्रभावित करते हैं–

(i) वृद्धि का प्रभाव : व्यक्ति के सामाजिक संबंधों पर उसकी बढ़ती हुई शक्ति तथा सामर्थ्य का प्रभाव पड़ता है। बच्चा जब जन्म लेता है तो वह अबोध शिशु होता है जो असहाय अवस्था में होता है और उसका जीवन भी समाज पर निर्भर करता है। विकास की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ ही बालक स्वावलम्बी होने लगता है। शक्ति की अधिक प्राप्ति के कारण वह समाज का नेतृत्व कर सकता है अथवा वह समाज पर अत्याचार भी कर सकता है।

अपरिपक्व सामाजिक विकास की स्थिति में मनुष्य असामाजिक भी बन सकता है। हीनता की भावना आ जाने के कारण व्यक्ति में समाज सेवा की भावना का लोप होने लगता है जिसके कारण व्यक्ति समाज का हित करने में असमर्थ हो जाता है। इस प्रकार वृद्धि का प्रभाव सामाजिक विकास पर अत्यधिक पड़ता है।

(ii) लिंग भेद का प्रभाव : लिंग भेद के कारण व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार में भिन्नता उत्पन्न होती है। टी. एच. ग्रीन ने शिशुओं के झगड़ों का अध्ययन किया तथा निष्कर्ष निकाला कि लड़के, लड़कियों की अपेक्षा अधिक झगड़ालू होते हैं। लड़कियां प्रतिरोध का व्यवहार प्रदर्शित करती हैं, जबकि लड़के प्रतिद्वन्द्विता पर बल देते हैं। लड़कियों में लड़कों की अपेक्षा सहनशक्ति, सहानुभूति और परित्याग की सामाजिक भावनायें अधिक होती हैं।

(iii) सीखने का प्रभाव : परिवार व्यक्ति की प्रथम पाठशाला होती है जिसके रीति–रिवाज भी समाज के रीति–रिवाजों पर आधारित होते हैं। अतः बच्चा समाज एवं परिवार से बहुत कुछ सीखता है। वह समाज के विभिन्न लोगों के साथ सम्पर्क स्थापित करके उनके साथ रहना सीखता है। परिवार, विद्यालय और विभिन्न समुदायों की उपस्थिति उसके सामाजिक व्यवहारों की शिक्षा में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

(iv) संस्कृति का प्रभाव : व्यक्ति में जो भी समाजिकता उत्पन्न होती है वह मूलतः उसकी संस्कृति के कारण ही होती है। अतः संस्कृति ही मनुष्य की समाजिकता का आधार है। परिवार तथा समाज में प्रचलित प्रथायें बालक पर विशेष प्रभाव डालती हैं। सामाजिक परम्परायें अलिखित कानून हैं, जिनका पालन मनुष्य की इच्छा पर निर्भर करता है। वर्तमान समय में बहुत से व्यक्ति सामाजिक रीति–रिवाजों को ढ़ोंग मानते हैं, लेकिन संस्कृति से प्रभावित होने पर अधिकांश व्यक्ति सामाजिक रीति–रिवाजों का पालन करते हैं।

टिप्पणी

(v) आर्थिक स्थिति का प्रभाव : आर्थिक स्थिति एक ऐसी स्थिति है जो बालकों के सामाजिक व्यवहारों पर अपना गहरा प्रभाव डालती है। निम्न आर्थिक स्तर वाले बालकों में हीनता की भावना की वृद्धि हो जाती है और वह समाज में पीछे रह जाते हैं, जबकि उच्च आर्थिक वाले बालक प्रायः इनके विपरीत होते हैं। परन्तु यह देखा गया है कि निर्धन परिवार के बालक आत्म–निर्भर होते हैं।

(vi) भाषा का प्रभाव : व्यक्ति के विचारों के आदान–प्रदान भाषा के माध्यम से ही होता है। इसलिए बालकों के सामाजिक जीवन में भाषा का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। बालक भाषा के माध्यम से ही दूसरे लोगों से सहानुभूति प्रदर्शित करता है तथा दूसरे लोगों द्वारा प्रदर्शित सहानुभूति को ग्रहण करता है। भाषा के माध्यम से ही सभी व्यक्ति उचित तरीके से एक दूसरे से संव्यवहार करते हैं। यदि समाज में भाषा का विकास नहीं हुआ होता तो सामाजिक संगठनों में प्रत्यक्ष क्रिया भी सम्भव नहीं हो पाती। सामाजिक संगठनों का आधार भाषा से ही स्थिर होता है।

(v) सामाजिक विकास और शिक्षा : शिक्षा का प्राथमिक उद्देश्य व्यक्ति के व्यवहारों को परिमार्जित करना है जिससे व्यक्ति समाज में एक सभ्य व्यक्ति बन सके। समाज के जन्म के साथ ही शिक्षा का भी जन्म हुआ। शिक्षा व्यक्ति को यह सिखाती है कि वह सामाजिक जीवन व्यतीत करके ही सुख और शान्ति प्राप्त कर सकता है। व्यक्ति का समाजीकरण शिक्षा के द्वारा ही सम्भव हो पाता है। व्यक्ति, परिवार, विद्यालय तथा अन्य समुदायों में भी सामाजिक नियमों का अनुकरण करना सीखता है।

प्रेम, सहयोग, सहानुभूति, सेवा और त्याग इत्यादि गुणों को बालक सर्वप्रथम अपने परिवार के द्वारा ही सीखता है। शिक्षा के द्वारा इन गुणों का बोध परोक्ष रूप से होता है। शिक्षा के द्वारा ही व्यक्ति के सामाजिक व्यवहारों में परिवर्तन आता है तथा वे पुष्ट भी होते हैं। अक्सर देखा जाता है कि यदि माता–पिता और शिक्षक शालीन और सभ्य नहीं होते हैं तो बच्चों का सामाजिक विकास रूक–सा जाता है। घर परिवार में रहने वाले बच्चों का सामाजिक विकास, स्कूल जाने वाले बच्चों से अच्छा नहीं होता है। विद्यालयों द्वारा आयोजित कार्यक्रम एवं विभिन्न शिविरों से बच्चों को सामाजिक शिक्षा की अच्छी सीख मिलती है।

1.3.4 संवेगात्मक विकास

व्यक्ति के जीवन में संवंगों का अत्यधिक महत्व है क्योंकि संवेगों के द्वारा ही व्यक्तियों को किसी कार्य को करने के लिए प्रेरणा प्राप्त होती है। संवेग व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और सामाजिक विकास में योगदान प्रदान करते हैं तथा विकास को कुण्ठित भी करते हैं।

संवेग एक उपद्रव की अवस्था है, जिसमें व्यक्ति की शारीरिक क्रियाओं में अन्तर आ जाता है। वह अपनी सामान्य स्थिति में नहीं रहता है तथा उसका अपनी बुद्धि पर भी नियंत्रण नहीं रहता है। संवेग की अवस्था में व्यक्ति को उचित व अनुचित का भी ज्ञान नहीं रहता है।

टी. जर्सील्ड ने संवेग को परिभाषित करते हुए लिखा है कि, ''संवेग शब्द किसी भी प्रकार के आवेग में आने, भड़क अथवा उत्तेजित होने की स्थिति को सूचित करता है।''

टिप्पणी

संवेग हमारे शरीर को सक्रिय बनाने में सहायता करता है, जिसके परिणामस्वरूप हम विभिन्न प्रकार की कठिनाइयों को सरलता से सुलझा पाते हैं। संवेग व्यक्तियों के व्यवहार में किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहता है। व्यक्ति वाह्य एवं आंतरिक दोनों प्रकार के संवेगात्मक व्यवहार से प्रभावित होता है। जैसे, व्यक्ति जब क्रोधित होता है तो उसकी आंखें लाल हो जाती है, उसका रक्तचाप बढ़ जाता है, उसकी मांसपेशियों में खींचाव होने लगता है तथा उसके होठ फड़कने लगते हैं। यह सब वाह्य संवेगात्मक परिवर्तन के फलस्वरूप होता है।

संवेगों के प्रकार

संवेग 14 प्रकार के होते हैं, जो अग्रलिखित हैं :

1. भय 2. क्रोध 3. घृणा, 4. वात्सल्य 5. करूणा एवं दुःख 6. कामुकता 7. आश्चर्य 8. आत्महीनता 9. आत्म–अभिमान 10. एकाकीपन 11. अधिकार की भावना 12. आनंद या हर्ष 13. कृति की भावना 14. ईर्ष्या।

कुछ संवेग ऐसे होते हैं जो मानव में प्राकृतिक रूप से पाये जाते हैं, जैसे, भय, क्रोध, आश्चर्य इत्यादि। कुछ संवेग धीरे–धीरे विकसित होते हैं, जैसे, प्रेम, ईर्ष्या, घृणा तथा करूणा इत्यादि। जैसे–जैसे बच्चे का सामाजिक विकास होता है वैसे–वैसे विभिन्न संवेग विभिन्न वस्तुओं के प्रति प्रेरित होते हैं। जिन संवेगों से बालक को आनंद की अनुभूति होती है वे सुखद संवेग कहलाते हैं, जैसे, आमोद तथा कृतिभाव इत्यादि। दूसरी तरफ जिन संवेगों से व्यक्ति को दुःख और असंतोष प्राप्त होता है, उन्हें दुःखद संवेग कहते हैं, जैसे, भय, क्रोध, घृणा तथा ईर्ष्या इत्यादि।

संवेग की विशेषतायें : संवेग के स्वरूप और संवेगात्मक विकास को समझने के लिए संवेगों की विशेषताओं को जानना आवश्यक है। इनका उल्लेख निम्नलिखित है–

1. **संवेग की व्यापकता** : संवेग सभी व्यक्तियों में पाये जाते हैं लेकिन इनकी प्रबलता सभी व्यक्तियों में समान नहीं होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि संवेगों की प्रबलता किसी व्यक्ति में अधिक होती है तो किसी व्यक्ति में कम होती है।
2. **मूल प्रवृत्तियों से संबंध** : संवेगों की उत्पत्ति मूल–प्रवृत्तियों से होती है। जैसे, युयुत्सा प्रवृत्ति से क्रोध संवेग तथा जिज्ञासा प्रवृत्ति से आश्चर्य संवेग की उत्पत्ति होती है।
3. **शारीरिक परिवर्तन** : व्यक्ति में संवेगात्मकता की स्थिति में वाह्य एवं आंतरिक परिवर्तन होते हैं। संवेगात्मकता में व्यक्ति जल्दी–जल्दी सॉस लेता है, ह्रदय की गति तेज हो जाती है तथा पाचन क्रिया प्रभावित हो जाती है। वाह्य शारीरिक परिवर्तनों में आवाज का तेज व धीमा होना तथा मुख मण्डल के रूप में परिवर्तन होना इत्यादि अन्तर्निहित होता है।
4. **विचार प्रक्रिया का लोप होना** : तीव्र संवेगात्मक स्थिति में व्यक्ति अपने सामान्य अवस्था में नहीं रहता है। वह उचित व अनुचित का विचार नहीं कर

पाता है। जैसे, व्यक्ति क्रोधित होता है तब वह मारने–पीटने पर उतारू हो जाता है।

टिप्पणी

5. **वैयक्तिकता** : संवेगों के प्रकाशन में वैयक्तिकता होती है। व्यक्ति के स्वभाव, अवस्था और परिस्थिति के अनुसार संवेग भिन्न–भिन्न रूप में प्रकट होते हैं। एक व्यक्ति किसी भिखारी को देखकर मुँह मोडकर चला जाता है जबकि दूसरा व्यक्ति भिखारी को देखकर दयावान हो जाता है तथा उसको कुछ दान भी दे देता है।
6. **अस्थिरता** : संवेग अस्थिर होते हैं। संवेग की स्थिति कुछ देर के लिए ही होती है। जैसे, क्रोध की अवस्था में माँ अपने बेटे को पीटती है लेकिन कुछ देर के बाद वात्सल्य और प्रेम भी प्रदर्शित करने लगती है।
7. **स्थानान्तरण** : कभी–कभी संवेग स्थानान्तरित भी हो जाते हैं। जैसे, किसी क्रोधित व्यक्ति को कोई दूसरा व्यक्ति समझाता है तो क्रोधित व्यक्ति उसी व्यक्ति पर क्रोधित हो जाता है जो उसे समझा रहा होता है। इस दौरान समझाने वाले व्यक्ति को भी क्रोध आ जाता है।
8. **सुख, दुःख का भाव** : संवेग में सुख व दुःख के भाव होते हैं। जैसे, वात्सल्य संवेग में सुख का अनुभव और भय संवेग में दुःख का अनुभव होता है।
9. **क्रियात्मक प्रवृत्ति** : प्रत्येक संवेग का संबंध किसी न किसी क्रियात्मक प्रवृत्ति से होता है। जैसे, आमोद में हँसना, क्रोध में मुट्ठी बँध जाना तथा भुजायें फड़कना आदि और भय में काँपना आदि।

संवेग और स्थायी भाव

संवेग एक अस्थायी मानसिक क्रिया है। इसकी अनुभूति कुछ समय के लिए ही होती है। दूसरी तरफ स्थायी भाव एक मानसिक रचना है जो व्यक्त न होने पर भी हमेशा बनी रहती है। मैक्डूगल ने लिखा है कि, ''संवेग अनुभव का एक प्रकार, कार्य की एक प्रणाली, क्रिया की एक विधि है। स्थायीभाव संरचना का एक तथ्य, स्नायुविन्यासों की एक संगठित अवस्था है जो कार्य करने के अवसरों के बीच में न्यूनाधिक शान्त स्थिति में रहती है।''

कोई व्यक्ति अपनी रूचि के अनुसार किसी वस्तु या व्यक्ति से प्रेम या घृणा करता है। इस तरह उस वस्तु या व्यक्ति के प्रति अनेक संवेग मिलकर एक मानसिक भाव का रूप धारण करते हैं। जब कोई संवेग किसी वस्तु या विचार से सम्बद्ध हो जाता है तो एक संस्कार हमारे मन में उत्पन्न हो जाता है, जिसे स्थायी भाव कहते हैं।

सेण्ड के मतानुसार, ''किसी के प्रति केन्द्रित संसुगठित संवेग स्थायी भाव है।'' रॉस के अनुसार, ''स्थायी भाव मानसिक ढाँचे की अर्जित प्रवृत्तियों का संगठन है।'' बोबाज के शब्दों में, ''स्थायीभाव संवेगों का उचित ढंग से एक संगठन होता है।''

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि स्थायी भाव उस समय विकसित होता है जब किसी व्यक्ति, वस्तु या विचार से सम्बंधित भाव बार–बार उठता है और वह उनसे स्थायी रूप से जुड़ जाता है। जैसे, बच्चा अपने माँ से प्रेम करता है, क्योंकि उसके

सम्पर्क से उसे सुख मिलता है और उसकी भूख, आमोद एवं अधिकार भावना की प्रवृत्ति संतुष्ट होती है। इस तरह बच्चे में धीरे–धीरे मॉ के प्रति इन संवेगों और प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप एक स्थयी मानसिक प्रवृत्ति बन जाती है, जो स्थायी भाव है।

टिप्पणी

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संवेग अस्थायी होने के साथ स्थायी भी हो जाते हैं। इस प्रकार स्थायी संवेग के रूप हैं–1. स्थायीभाव तथा 2. भावना ग्रन्थि।

भावना ग्रंथि : जब संवेगों का समुचित ढंग से संगठन नहीं होता है तो उसे भावना ग्रन्थि कहा जाता है। इसे विकृत स्थायी भाव भी कहा जा सकता है। जब हमारी स्वाभाविक इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती है तो वे चोर की भांति अज्ञात चेतना में प्रवेश कर जाती हैं तथा हमें अपनी इच्छाओं का दमन करना होता है, इस तरह भावना ग्रन्थियों की नींव पड़ती है। दमित की हुई इच्छायें समाप्त नहीं होती हैं बल्कि अचेतन मन में छिप जाती हैं और चेतना को प्रभावित करती रहती हैं। दमित इच्छायें अचेतन मन में उसी तरह संगठित होती रहती हैं जैसे, चेतन मन में संवेग। संवेग संगठित होकर स्थायी भाव का रूप धारण कर लेता है और दमित इच्छायें भावना ग्रंथियों को जन्म देती हैं।

भावना ग्रन्थि को परिभाषित करते हुए जेम्स ड्रेवर ने लिखा है कि, ''भावना ग्रंथि आंशिक या संपूर्ण रूप से दबाई गई भावनाओं का समूह है, जिस पर संवेगों का रंग होता है।''

हमारे मन के तीन स्तर होते हैं–1. चेतन, 2. अर्द्ध–चेतन या अवचेतन, 3. अचेतन।

चेतन मन हमेशा जागरूक रहता है। व्यक्ति को अपने विचारों, इच्छाओं, क्रियाओं या घटनाओं की वर्तमान में पूर्ण चेतना रहती है। वे उसके चेतन मन से संबंध रखती हैं। जैसे, यदि हम अपने घर के कमरे में आस–पास की वस्तुओं अथवा अन्य सदस्यों की बातचीत या क्रिया–कलापों का ज्ञान प्राप्त करना चाहें तो चेतन मन के द्वारा ही होगा। अर्द्ध–चेतन या अवचेतन मन में हमें अपनी क्रियाओं और अनुभवों की फीकी और धूमिल चेतना रहती है। इन क्रियाओं एवं अनुभवों की चेतना हमें वर्तमान में नहीं रहती परन्तु जब हम प्रयास करते हैं तो वे चेतन हो जाती हैं। जैसे, यदि हम किसी व्यक्ति से दस वर्ष पहले मिले हों और वह व्यक्ति हमारे सामने आता है तो हम उसे थोड़ी मेहनत से पहचान लेते हैं। दूसरी तरफ जिन घटनाओं या अनुभवों की चेतना न तो वर्तमान में रहती है और न प्रयत्न करने पर संज्ञान में आ पाती है तो वे सब मन के अचेतन स्तर पर रहती हैं। इस प्रकार अचेतन मन दमित इच्छाओं, कामनाओं और लालसाओं का खजाना है।

महान मनोवैज्ञानिक सिगमण्ड फ्रायड के मतानुसार, ''चेतन के द्वारा तिरस्कृत विचार अचेतन मन के विषय होते हैं।'' जब व्यक्ति के मन में इस तरह की इच्छायें और विचार उत्पन्न होते हैं, जिन्हें असामाजिक, अनैतिक या अनुचित माना जाता है, तो व्यक्ति की चेतना इन्हें प्रकट नहीं होने देती। ये चेतना से तिरस्कृत होकर अचेतन स्तर पर चली जाती हैं। इस तरह इन इच्छाओं का दमन तो हो जाता है लेकिन वे समाप्त नहीं होती हैं।

अचेतन मन की दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति व्यक्ति के आचरण और व्यवहार में प्रकट होती रहती है। इस प्रकार की इच्छायें, कामनायें, अनुभव या विचार अचेतन

मन में रहते हैं, जिनकी जानकारी व्यक्ति को नहीं रहती और साधारणतः प्रयत्न करने पर भी वे स्वस्थ रूप से चेतन स्तर पर नहीं आ पाती हैं।

टिप्पणी

अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अचेतन अवस्था में हमें अपनी क्रियाओं, विचारों और अनुभवों का बिल्कुल ज्ञान नहीं रहता है। अपने रोजमर्रा के जीवन में हम अनजाने में अनेक ऐसे कार्य करते हैं जिनके कारणों का हमें कोई भी ज्ञान नहीं होता, जैसे, नाखून चबाना, चाभी का गुच्छा घुमाना, हाथ हिलाना इत्यादि। इसी तरह रोजमर्रा के जीवन की क्रियाओं में अनजानी भूले भी होती हैं। व्यक्ति कहना तो कुछ चाहता है लेकिन बोल कुछ और जाता है, लिखना तो कुछ चाहता है लेकिन लिख कुछ और जाता है। फ्रायड का मानना है कि इस तरह के व्यवहारों और भूलों द्वारा अचेतन मन की दमित इच्छाओं की अनजाने में पूर्ति होती है। ये क्रियायें अकारण नहीं होती हैं बल्कि इनके पीछे अचेतन मन की कोई ने कोई दमित इच्छा कार्य करती रहती है तथा हमें एक विशेष प्रकार का व्यवहार करने हेतु प्रेरित करती है।

1.4 विकासात्मक कार्य

राबर्ट जेम्स हैविंगर्स्ट एक प्रोफेसर, भौतिक विज्ञानी, शिक्षक और वृद्धावस्था के विशेषज्ञ थे। हैविंगर्स्ट ने अस्सी के दशक में मानव के विकासात्मक कार्यों पर अध्ययन किया तथा उनको प्रकाशित किया। इनकी मृत्यु नब्बे वर्ष की अवस्था में अल्जाइमर रोग से हो गयी। उन्होंने प्रस्ताव दिया कि सभी व्यक्ति विकास के चरणों में विकास कार्यों की एक श्रृंखला के माध्यम से प्रगति करते हैं उन्होंने बताया कि इन कार्यों को घर पर या अन्य स्थलों पर सीखा जा सकता है। हैविंगर्स्ट ने कहा कि विकास की परस्पर संबंधित प्रकृति के कार्यों से पता चलता है कि शिक्षकों को बच्चों व किशोरों के सभी विकासात्मक कार्यों पर हमेशा विचार करना चाहिए।

'विकासात्मक कार्य' शब्द की शुरूआत राबर्ट हैविंगर्स्ट ने 1950 के दशक में की थी। उन्होंने बताया कि एक विकासात्मक कार्य वह है जो पूर्वानुमेय रूप से लगातार उत्पन्न होता है अथवा व्यक्ति के जीवन में एक निश्चित अवधि तक रहता है। उनके अनुसार सीखना जीवन के बुनियादी कार्यों में से महत्वपूर्ण कार्य है तथा लोग जीवन के बाहर भी सीखते रहते हैं। उन्होंने कहा है कि विकासात्मक कार्य एक ऐसा कार्य है जो व्यक्ति करना चाहता है और अपने जीवन काल में इससे संबंधित कार्यों को हल करना चाहता है। उनके अनुसार, ''विकासात्मक कार्य एक व्यक्ति की आवश्यकता और सामाजिक मांग के बीच का मध्य मार्ग है तथा एक सक्रिय शिक्षार्थी एक सक्रिय सामाजिक वातावरण के साथ अंतःक्रिया करता है।''

इस प्रकार विकासात्मक कार्य मानव जीवन में आजीवन मानव विकास के उभरते क्षेत्र में प्रारम्भिक और महत्वपूर्ण योगदानकर्ता है। इन कार्यों की सफलता से व्यक्ति को सुख की प्राप्ति होती है तथा उसके मन को प्रसन्नता प्राप्त होती है तथा दूसरी तरफ जब वह असफल होता है तो वह दुखी भी होता है। यदि मानव के इन कार्यों को समाज स्वीकृत करता है तो वह भावविभोर हो जाता है तथा यदि समाज अस्वीकृत कर देता है तो वह भविष्य में किये जाने वाले कार्यों के प्रति सशंकित होता है। विकासात्मक कार्यों की अवधारणा मानती है कि समाज कार्यों की एक लंबी श्रृंखला

आधुनिक समाज के मानव के विकास की विशेषता है। इनमें से कुछ कार्य बचपन और किशोरावस्था में सम्पन्न होते हैं तथा कुछ वयस्कता के दौरान उत्पन्न होते हैं एवं कुछ तो वृद्धावस्था में भी सम्पन्न होते हैं।

टिप्पणी

1.4.1 विकासात्मक कार्य की विशेषतायें

हैविंगर्स्ट ने व्यक्ति के जीवन के कई अलग–अलग पहलुओं पर विचार किया जिसमें एक व्यक्ति के विकास अर्थात् जैविक विकास और व्यक्ति की भौतिक संरचनायें जिसमें वह रहता है, व्यक्ति पर सांस्कृतिक प्रभाव, साथ ही साथ व्यक्ति की व्यक्तिगत विशेषताओं, मूल्यों और लक्ष्यों को प्रभावित करते हैं, आदि सम्मिलित हैं।

विकास का यह दृष्टिकोण शारीरिक परिपक्वता की भूमिका को ध्यान में रखता है तथा वह भूमिका जो समाज उन कौशलों को निर्धारित करने में निभाता है तथा जिन्हें एक निश्चित उम्र में सीखने की मानव को आवश्यकता होती है, के बारे में ध्यान रखता है। हैविगर्स्ट के अनुसार, व्यक्ति में संवेदनशील अवधियां होती हैं जिन्हें सीखने के योग्य अवसर कहा जाता है। इन्हीं के आधार पर व्यक्ति विकासात्मक कार्य सीखने के लिये पर्याप्त परिपक्व होता है। ये कार्य शारीरिक हो सकते हैं, जैसे, चलना, संज्ञानात्मक जैसे, पढ़ना–लिखना सीखना या सामाजिक हो सकते हैं जिसमें व्यक्ति महत्वपूर्ण संबंध बनाना या विकसित करना सीखता है। सीखने का कार्य विकास की महत्वपूर्ण अवधि समाप्त हो जाने के बाद भी जारी रह सकता है। जैसे, कौशल विकास करना तथा भाषा का विकास करना व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास होने के बाद भी जारी रहते हैं। मानव जीव विज्ञान संदर्भित कुछ कार्य सभी के लिए समान होते हैं, चाहे आप कहीं भी रहते हों तथा जैसे भी हों। उदाहरण के लिए सभी समाजों में रेंगना और चलना सीखना सभी समाजों में बहुत समान होते हैं क्योंकि यह आनुवंशिक कारकों पर निर्भर करता है। कुछ समाज के कार्य अलग–अलग होते हैं। जैसे, कुछ कार्य विभिन्न संस्कृतियों में भिन्न रूपों में हो सकते हैं या ये संस्कृति में मौजूद हो सकते हैं और अन्य संस्कृति में नहीं हो सकते हैं। जैसे, विभिन्न संस्कृतियों में व्यवसाय करने का तरीका अलग होता है। कुछ संस्कृतियों में एक व्यक्ति जब बहुत छोटा होता है तभी उसको नौकरी प्राप्त हो जाती है जबकि अन्य संस्कृतियों में किसी व्यक्ति को बहुत पढ़ने लिखने के बाद नौकरी प्राप्त होती है।

हैविंगर्स्ट ने कहा कि जीव विज्ञान और समाज का, व्यक्तित्व पर बहुत प्रभाव पड़ता है, लेकिन उन्हें तैयार करने वाले मूल्यों की पहचान और उनके कार्यों की पहचान करने पर उन पर विशेष प्रभाव पड़ता है। विकासात्मक कार्यों के स्रोत के बारे में हैविंगर्स्ट ने अपने जैव मनो–सामाजिक प्रारूप के आधार पर बताया है कि इसके तीन अलग–अलग स्रोत हैं। पहला जीव विज्ञान, दूसरा मनोविज्ञान तथा तीसरा समाजशास्त्र है। उन्होंने इन तीनों स्रोतों की पहचान की है।

विकासात्मक कार्यों के स्रोतों में व्यक्ति की शारीरिक संरचना महत्वपूर्ण होती है जिसमें कुछ कार्य मुख्य रूप से शारीरिक परिपक्वता पर आधारित होते हैं। जैसे, सीखना, किशोरावस्था के दौरान विपरीत लिंग के साथ स्पर्शात्मक व्यवहार, बात करना और स्वीकार करने योग्य व्यवहार करना। मध्य आयु के दौरान रजोनिवृत्ति के लिए समायोजन करना। विकासात्मक कार्यों के एक अन्य स्रोत में व्यक्तिगत मूल्य

अन्तर्निहित होते हैं जिनमें आकांक्षायें इन व्यक्तिगत कारणों के बीच बातचीत का परिणाम होती हैं इसमें पर्यावरणीय एवं आनुवंशिक कारण सक्रिय भूमिका निभाते हैं। विकासात्मक कार्यों का तीसरा स्रोत सामाजिक–संरचनात्मक और सांस्कृतिक ताकतों से संबंधित है। जैसे, विवाह के लिए कानून पर आधारित न्यूनतम उम्र की सीमा तथा विकास की उम्मीदें आदि।

टिप्पणी

1.4.2 अवस्था अनुरूप विकासात्मक कार्य

राबर्ट हैविंगर्स्ट ने मानव के पूरे जीवन काल में महत्वपूर्ण विकासात्मक कार्यों की पहचान की है। इन्हें अग्रलिखित बिन्दुओं के माध्यम से स्पष्ट कर रहे हैं–

(अ) वयस्कता की अवधि में विकासात्मक कार्य (19–30 वर्ष) : युवावस्था या वयस्कता की अवधि में विकासात्मक कार्य मुख्य रूप से परिवार, और सामाजिक जीवन में स्थित होते हैं। परिवार से संबंधित विकासात्मक कार्यों को एक साथी खोजने के रूप में वर्णित किया गया है, जिसमें शादी करने के बाद साथी के साथ रहना सीखना, बच्चे पैदा करना और उनका पालन–पोषण करना तथा परिवार एवं घर का प्रबंध करना आदि शामिल हैं। यह एक ऐसी अवधि होती है जिसके विकासात्मक कार्यों में बहुत अधिक धन की आवश्यकता होती है, क्योंकि इसी अवधि में युवा अपने कैरियर के लिए विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी करते हैं। इसी अवधि में उनका परिवार यदि सहयोग प्रदान करता है तो वे अपनी तैयारी करते हैं तथा सफलता प्राप्त करते हैं एवं अपने विकासात्मक कार्यों के प्रति भी अपनी जिम्मेदारी का निर्वहन करते हैं। कुछ युवा तो अपने सीमित संसाधनों को ध्यान में रखते हुए अपनी पढ़ाई बीच में ही छोड़ देते हैं तथा अपने से संबंधित विकासात्मक कार्यों के लिए कोई छोटी–मोटी नौकरी करके अपने परिवार का पालन–पोषण करने लगते हैं।

इसी अवस्था में युवाओं को बाहरी वातावरण से सामंजस्य बैठाना पड़ता है तथा अन्य लोगों से मित्रता भी करनी पड़ती है। युवाओं को विवाह के बाद समुदाय की जिम्मेदारी भी उठानी पड़ती है।

इस अवधि में युवाओं को मूलतः निम्नलिखित विकासात्मक कार्य करने पड़ते हैं–

(क) जीवन साथी का चुनाव : व्यक्ति के जीवन में उसके साथी का महत्वपूर्ण स्थान होता है। अतः साथी का चुनाव बहुत ही सावधानी से करना आवश्यक होता है। इस अवधि में युवाओं को विकासात्मक कार्यों में यह कार्य बहुत महत्वपूर्ण माना गया है। इस अवस्था में युवा एक अच्छे जीवन साथी का चुनाव करके अपना घर बसाते हैं।

(ख) पत्नी के साथ रहना सीखना : विवाह के बाद पत्नी के साथ रहना विकासात्मक कार्यों में से एक है। इसमें एक दूसरे को जानने का अवसर मिलता है तथा एक दूसरे की भावनाओं की कद्र करने का तरीका सीखा जाता है। जब व्यक्ति अपने जीवन–साथी के साथ रहते हुए उसकी भावनाओं का सम्मान करता है तो उसका वैवाहिक जीवन सुखमय बन जाता है।

(ग) परिवार शुरू करना : परिवार शुरू करना युवावस्था के विकासात्मक कार्यों में महत्वपूर्ण कार्य है। जब व्यक्ति अपने जीवन साथी के साथ जीवन यापन करता

टिप्पणी

है तो वह परिवार शुरू करता है जिसके लिए वह परिवार में बच्चे के आगमन हेतु नियोजन करता है। इस अवस्था में पहले बच्चे का नियोजन किया जाता है तथा बच्चा पैदा करना होता है जिससे परिवार में वृद्धि हो सके तथा विवाह नामक संस्था के उद्देश्यों को पूरा किया जा सके।

(घ) बच्चों का पालन–पोषण करना : जब परिवार में बच्चा आता है तो उसके पालन–पोषण की जिम्मेदारी उनके माता–पिता पर आ जाती है। इस समय पति–पत्नी दोनों बच्चे की भावनाओं को सझकर उसका पालन–पोषण करते हैं तथा उसके शारीरिक एवं भावनात्मक प्रक्रियाओं को समझने का प्रयास करते हैं, क्योंकि पति–पत्नी दोनों ही पहले ऐसी जिम्मेदारी नहीं सम्भाले हुए होते हैं। इस समय उन दोनों को यह भी चाहिए कि वे बच्चे को प्रतिबंधित कब और करना तथा उन्हें शाबासी कब देनी है, इत्यादि के बारे में जानकारी अवश्य कर लें।

(ङ) घर का प्रबंधन : घर में पारिवारिक जीवन एक भौतिक केन्द्र के इर्द–गिर्द निर्मित होता है तथा इसकी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि घर का प्रबंधन कितने अच्छे तरीके से किया गया है। अच्छे गृह प्रबंधन में घर की साफ–सफाई, फर्नीचर का रख–रखाव, कृत्रिम व प्राकृतिक रोशनी की व्यवस्था, नालियों की साफ–सफाई तथा नलों का रख–रखाव तथा अच्छे तरह के पके हुए भोजन की व्यवस्था इत्यादि आते हैं।

(च) किसी व्यवसाय की शुरूआत करना : व्यक्ति अपनी युवावस्था में यदि किसी व्यवसाय को चुनकर स्थापित होने की शुरूआत करना चाहता है तो इसमें काफी धनराशी, समय एवं ऊर्जा की आवश्यकता होती है। इस समय युवा अपने व्यवसाय में इतना तल्लीन हो जाता है कि वह अन्य कार्यों की उपेक्षा करने लगता है, यहां तक की वह अपनी खुशी के लिए जीवन–साथी का महत्व भी जरूरी नहीं समझता है।

(छ) सामाजिक जिम्मेदारी निभाना : इस अवस्था में युवा परिवार के साथ–साथ वाह्य समूहों जैसे, पड़ोस, सामुदायिक समूह, मन्दिर या राजनीतिक संगठनों से संबंधित जिम्मेदारी सम्भालने के लिए आगे आते हैं।

(ज) एक अनुकूल सामाजिक समूह ढूँढना : जब युवावस्था में विवाह सम्पन्न हो जाता है और पति–पत्नी दोनों साथ–साथ रहने लगते हैं तो उनके पूर्व के मित्रों से बने हुए संबंध अक्सर टूटने लगते हैं, जिसका कारण पति–पत्नी के मध्य नये संबंधों की शुरूआत ही होती है। इस समय पत्नी अपने पुराने मित्रों से दूरी बना लेती है तथा ऐसे अनुकूल सामाजिक समूह को ढूँढने का प्रयास करती है जिससे वह आसानी से मित्रता कर सके और परिवार की जिम्मेदारियों को आसानी से निभा सके। वहीं दूसरी तरफ पति अपने पुराने मित्रों से मिलने की तीव्रता को कम कर देता है तथा अपनी जिम्मेदारियों के प्रति गम्भीर हो जाता है। वह कुछ ऐसे मित्रों के साथ अपना संबंध बनाये रखता है जो उसकी जिम्मेदारियों में हस्तक्षेप न करें।

टिप्पणी

(ब) मध्यावस्था में विकासात्मक कार्य (30–60 वर्ष) : आज के वर्तमान युग की कुछ समस्यायें मध्यम आयु वर्ग की विशेषता होती हैं। इनमें से कुछ समस्यायें कुछ पुरूषों और महिलाओं दोनों के लिए अधिक कठिन होती हैं तथा कुछ महिलाओं के लिए अत्यधिक मुश्किल होती हैं। ये प्रमुख समस्यायें मध्यम आयु के दौरान संतुष्टि, समायोजन और विकासात्मक कार्यों से संबंधित होती हैं। मध्यम आयु में पर्यावरणीय दबाव और मांगों व दायित्वों से विकासात्मक कार्यों में परिवर्तन उत्पन्न होते हैं। इनका निराकरण व्यक्ति मूल्यों एवं आकाक्षाओं के आधार पर करता है। चूंकि मध्यम आयु वर्ग के लोग अपने परिवार के साथ रहते हैं जो परिवार में बच्चों को खेलते हुए देखते हैं तथा पति–पत्नी के संबंधों को भी देखते हैं जिनके मध्य संबंध स्थापित करते हुए वे परिवार की जिम्मेदारियों का निर्वहन करते हैं। परिवार के प्रत्येक सदस्यों की अपनी भूमिकायें व कार्य होते हैं।

मध्यावस्था के दौरान कई विकासात्मक कार्य होते हैं। जैसे, वयस्कता की जिम्मेदारी प्राप्त करना, जीवन स्तर को बनाये रखना, वयस्कता के संक्रमण काल में बच्चों की सहायता करना तथा अन्य संबंधित पहलूओं में सहयोग प्रदान करना। यही वह समय है जब बच्चे अपनी शिक्षा–दीक्षा के लिए अन्य समूहों के सदस्य बनते हैं तथा इसके लिए अपने घर–परिवार का परित्याग कर देते हैं। इस समय जब बच्चे शिक्षा ग्रहण करने के लिए अन्य शहर चले जाते हैं तो माता–पिता को परिस्थितियों से समायोजन करना पड़ता है। मध्यावस्था में जैविक परिवर्तनों में बुढ़ापा आ जाता है। विशिष्ट रूप से मध्य आयु में महिलाओं में शारीरिक परिवर्तन अधिक देखने को मिलते हैं जो मनोवैज्ञानिक परिवर्तनों के आधार पर होते हैं।

इस अवस्था में निम्न परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देते हैं–

1. वयस्क नागरिकता प्राप्त करना और सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वहन करना।
2. जीवन यापन के आर्थिक मानक की स्थापना करना व उसका रख–रखाव करना।
3. किशोर उम्र के बच्चों को एक उत्तरदायी और प्रसन्नचित व्यस्क बनने में सहायता प्रदान करना।
4. वयस्क के लिए आनंददायक पलों का विकास करना तथा समय आधारित क्रियाओं को करना।
5. अपने आप को अपने जीवन साथी के साथ एक व्यक्ति के रूप में स्थापित करना।
6. मध्यम आयु के शारीरिक परिवर्तनों को स्वीकार करना और समायोजित करना।
7. उम्रदराज माता–पिता के साथ तालमेल बिठाना।

हैविंगर्स्ट ने इन कार्यों को चार प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया है–

(क) भौतिक परिवर्तनों से संबंधित कार्य : मध्यावस्था में स्वीकृति के साथ–साथ इस अवस्था में होने वाले परिवर्तनों के लिए समायोजन अन्तर्निहित होता है।

टिप्पणी

(ख) परिवर्तित रूचियों से संबंधित कार्य : इस अवस्था में व्यक्ति वे सभी कार्य करने का प्रयास करता है जिन कार्यों को वह अपने प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था में नहीं कर पाया था। इस अवस्था में व्यक्ति अक्सर नागरिक और सामाजिक जिम्मेदारियों के प्रति अपनी रूचि विकसित करता है।

(ग) व्यायवसायिक समायोजन से संबंधित कार्य : इस अवस्था में व्यक्ति व्यावसायिक समायोजन करने का प्रयास करता है। वह कोई ऐसा व्यवसाय निर्धारित कर उसमें अपना शतप्रतिशत लगाने का प्रयास करता है तथा अच्छा व्यवसायी बनने का प्रयास करता है।

(घ) पारिवारिक जीवन से संबंधित कार्य : इस अवस्था में जीवन साथी से सामंजस्य, वृद्ध माता–पिता के साथ तालमेल बैठाना तथा किशोरों की सहायता करने के साथ–साथ बच्चों की जिम्मेदारी सम्भालने का कार्य प्रमुख होता है।

अन्य अवस्थाओं की तरह मध्यावस्था की आयु में एक ही समय में एक ही तरह से सभी लोगों को महारत हासिल नहीं होती हैं। इस अवस्था के कुछ लोगों को प्रारम्भिक वर्षों में तथा कुछ लोगों को बाद के वर्षों में महारत हासिल होने की संभावना होती है। यह स्तर अलग–अलग व्यक्तियों में भिन्न–भिन्न होता है। अधेड़ उम्र के लोग जब शादी करते हैं तो माता–पिता बनने की अवस्था में उनके बच्चों की संख्या उनके उम्र को प्रभावित करती है। इस समय उनको बच्चों के साथ तथा पारिवारिक जीवन से संबंधित विकासात्मक कार्यों के साथ समायोजन करने में कठिनाई होती है। ऐसा भी होता है जब किसी व्यक्ति की शादी हुई हो और वे अपनी किशोरावस्था में हों और उनका कोई बच्चा न हो तो वे सामाजिक और नागरिक जीवन में अधिक सक्रियता से भाग लेते हैं।

मध्यावस्था में लोग अपने आस–पास के वातावरण में अपने व्यक्तित्व का विकास चरम पर ले जा सकते हैं तथा अपने आस–पास के वातावरण पर अपना नियंत्रण रखने का प्रयास कर सकते हैं। मध्यावस्था में लोग शारीरिक परिवर्तन का शुरूआती सामना करते हैं तथा इस समय उनकी सामाजिक जिम्मेदारियां अधिक होती हैं। जब तक व्यक्ति एक प्रदाता के रूप में अच्छा प्रदर्शन नहीं करता है तब तक उसके परिवार के लिए भी अच्छा प्रदर्शन मुश्किल होता है। उदाहरण के लिए जब तक महिला एक मां के रूप में अच्छा प्रदर्शन नहीं करती है, तब तक किशोर उम्र के बच्चे के लिए किशोरावस्था के कार्यों को पूरा करना मुश्किल हो जाता है। इसमें परिवार के सदस्य बच्चों के विकासात्मक कार्यों के प्रति पारस्परिक प्रतिक्रिया करते हैं तथा उनकी सहायता करते हैं। मध्यावस्था के अधिकांश कार्य व्यक्ति को सफल समायोजन के लिए तैयार करते हैं।

(स) वृद्धावस्था में विकासात्मक कार्य (60 वर्ष से अधिक) : वृद्धावस्था की अवधि साठ वर्ष की आयु से शुरू होती है। इस उम्र में अधिकांश व्यक्ति औपचारिक रूप से अपनी नौकरी से सेवानिवृत हो जाते हैं। वृद्धावस्था में व्यक्ति अपने शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को लेकर चिंता करना शुरू करते हैं। हमारे समाज में बुजुर्गों को इतना सक्रिय नहीं माना जाता है। उनके लिए हमारे समाज में धारणा है कि वे बौद्धिक रूप से कमजोर होते हैं तथा उनकी मानसिकता संकिर्ण हो जाती है और वे धर्म की व्याख्या अपने अनुसार करते हैं। इस अवस्था में कई लोग अपने जीवन साथी

को खो देते हैं जिसके कारण वे भावनात्मक रूप से पीड़ित हो सकते हैं और उनमें असुरक्षा की भावना हो सकती है।

टिप्पणी

'वृद्धावस्था से कभी किसी की मृत्यु नहीं हुई', यह एक सत्य कथन है। चूंकि वृद्धावस्था जीवन के अंतिम पड़ाव के करीब होती है जिसके कारण इसे मृत्यु से जोड़ा गया है। मृत्यु वास्तव में रोग, प्रदूषण, तनाव और शरीर पर कार्य करने वाले अन्य कारकों के कारण होती है। इस अवस्था में शरीर के कुछ अंग और प्रणालियां बिगड़ने लगती हैं। मनोवैज्ञानिक अर्थों में सज्ञानात्मक और अवधारणात्मक क्षमताओं में औसत दर्जे का परिवर्तन हो सकता है। एक व्यक्ति के अपने खुद के बारे में महसूस करने के तरीके में भी बदलाव होते हैं। हम आप में से सभी लोग किसी न किसी पुराने लोगों से मिले होगें जो जीवन में बहुत सक्रिय होते हैं और सामाजिक रूप से बहुत सहभागी होते हैं। ऐसे लोग बेहतर उत्पादक, स्थिर और सुखी प्रतीत होते हैं।

व्यक्ति अस्सी या नब्बे साल का होने पर भी जोरदार, सक्रिय और प्रतिष्ठित बना रह सकता हैं चाहें उसके अन्दर मानसिक या शारीरिक गिरावट हो या न हो। वास्तव में, वृद्ध व्यक्तियों के पास ज्ञान, अनुभव और समझ का विशाल भंडार होता है जिसका समुदाय उपयोग कर सकता है। जीवन प्रत्याशा में तेजी से वृद्धि को देखते हुए समाज का बड़ा हिस्सा वृद्ध लोगों के समूह में शामिल हो रहा है। इसलिए वृद्ध लोगों का राष्ट्रीय नियोजन में अधिक से अधिक भागेदारी आवश्यक है जिससे उनको यह महसूस हो सके कि वे भी समाज का अभिन्न हिस्सा हैं।

वृद्धावस्था को अक्सर हानि और गिरावट की अवधि के रूप में वर्णित किया गया है। फिर भी, जीवन की किसी भी अवधि में विकास में लाभ और हानि दोनों होते हैं। हालांकि बढ़ती उम्र के साथ लाभ–हानि का अनुपात तेजी से नकारात्मकता की तरफ बढ़ता है। तथ्य यह है कि व्यक्ति अपना रास्ता खुद बनाता है।

सामान्य वृद्ध लोगों के सीखने तथा उनके कार्यों पर विचार करके जीवन को मौलिक बनाने का प्रयास कर सकता है क्योंकि नये व्यक्तियों के सामने अभी नये अनुभव और नयी परिस्थितियां होती हैं। लेकिन जब व्यक्ति अपनी अधिवर्षता आयु में अपने व्यवसाय से सेवानिवृत्त हो जाता है तो एक और दस साल जीने की तुलना में उसमें परिवर्तन बेहतर होते हैं। इस दौरान पुरूष या उसकी पत्नी को निम्नलिखित में से कई अनुभव होने की सम्भावना होती है–

1. आय में कमी, 2. एक छोटा घर, 3. मृत्यु से पति या पत्नी की हानि, 4. एक अपंग बीमारी या दुर्घटना, 5. व्यापार चक्र में एक मोड़, 6. जीवन–यापन की लागत के परिणामी परिवर्तन इत्यादि। इनमें से किसी भी घटना के बाद की स्थिति इतनी बदल सकती है कि वृद्ध व्यक्ति को हो सकता है कि जीवन जीने के लिए नये तरीके सीखने पड़ें।

वृद्धावस्था में बाद की परिपक्वता के विकासात्मक कार्य केवल एक मौलिक संबंध में अन्य अवस्थाओं से भिन्न होते हैं। इसमें अधिक रक्षात्मक रणनीति शामिल हो जाती है जिससे जीवन को धारण करने की शक्ति उत्पन्न होती है। शारीरिक, मानसिक और आर्थिक क्षेत्रों की सीमायें विशेष रूप से स्पष्ट हो जाती हैं। वृद्ध व्यक्ति के पास जो पहले से है, उसे बनाये रखने के लिए उसे कठिन परिश्रम करने की

आवश्कता होती है। सामाजिक संबंधों में जो भी दरार आ गयी होती है उसको भरने का उचित अवसर मिलता है। आध्यात्मिक क्षेत्रों में व्यक्ति अपने आप को संलग्न करने का प्रयास करता है।

टिप्पणी

1.4.3 विकासात्मक कार्य के प्रमुख स्वरूप

हैविंगर्स्ट ने निम्नलिखित विकासात्मक कार्यों को बताया है–

1. **घटती शारीरिक शक्ति और स्वास्थ्य के लिए समायोजन** : 30 वर्ष की आयु से 80 वर्ष और उससे अधिक की आयु में शरीर सबसे कमजोर होता है और व्यक्ति के शरीर में गिरावट शुरू हो जाती है। इस समय व्यक्ति की पैर की मांसपेशियां तथा हाथ की मांसपेशियां कमजोर हो जाती हैं। व्यक्ति की प्रगतिशील ऊर्जा उत्पादन में गिरावट होने लगती है। हड्डियां तेजी से भंगुर और झुक जाती हैं तथा आसानी से टूट सकती हैं। उम्र के साथ कैल्शियम से संबंधित और जोड़ों से संबंधित रोग बढ़ जाते हैं। मांसपेशियों के ऊतकों का आकार और ताकत घट जाती है। उम्र और शरीर में सामंजस्य बनाये रखना मुश्किल हो जाता है क्योंकि शरीर के भीतर वसायुक्त पदार्थों में वृद्धि होती है। वृद्धों में अप्रयुक्त मांसपेशियों को भी ताकतवर बनाये रखने के लिए व्यायाम मदद करता है।

   सामान्य मुद्रा में परिवर्तन वृद्धावस्था में अधिक स्पष्ट हो जाते हैं। यह पाया गया है कि 30 साल की उम्र के बाद व्यक्तियों की अंग प्रणाली की कार्यात्मक क्षमता में प्रतिवर्ष 0.8 से 1 प्रतिशत की गिरावट होने लगती है। इस गिरावट में कुछ गिरावट सामान्य होती हैं, कुछ बीमारियों के कारण होती हैं, कुछ तनाव के कारण होती हैं, कुछ व्यावसायिक स्थिति के कारण होती हैं तथा कुछ पोषण एवं पर्यावरणीय कारणों से होती है।

2. **सेवानिवृत्ति और कम आय में समायोजन** : जब व्यक्ति सेवानिवृत हो जाता है तो उसकी आय में कमी हो जाती है लेकिन उसकी आवश्यकताओं में कोई कमी नहीं होती हैं। अतः आवश्यक है कि व्यक्ति सेवानिवृत्ति के बाद अपनी आवश्यकताओं का अवलोकन करे तथा जो भी उसकी आय है उसी के अनुरूप समायोजन करने का प्रयास करे। सेवानिवृत्ति से पुरूषों में अत्यधिक तनाव होता है क्योंकि नौकरी व्यक्ति के समाज में पहचान का अहम् हिस्सा है। जब सेवानिवृत्ति हो जाती है तो व्यक्ति के आत्म सम्मान और आत्म मूल्य दोनों का नुकसान होता है। सेवानिवृत्ति के कारण व्यक्तियों के लिए सामाजिक पर्यावरण से समायोजन करना कठिन हो जाता है क्योंकि उनको विभिन्न बीमारियों के कारण एवं अकेलेपन की भावनाओं के कारण परेशानी होती है।

   हालांकि यह जरूरी नहीं है कि हर व्यक्ति के लिए सेवानिवृत्ति का परिणाम नकारात्मक ही हो। कुछ लोग सेवानिवृत्ति के बाद समाज में बेहतर समायोजन करके नयी पारी की शुरूआत करते हैं तथा नये सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वहन करते हैं।

टिप्पणी

3. **जीवन साथी की मृत्यु के बाद सामंजस्य बैठाना** : वृद्ध व्यक्ति मृत्यु से नहीं डरते हैं। वे काफी हद तक मरने की प्रक्रिया जैसे, दर्द से मरने या अकेले में मरने से डरते हैं। मृत्यु से संबंधित उनकी भावनाओं के कई कारण हो सकते हैं, जिनमें उन्हें बीमारी की अवस्था में घर से स्थानांतरित किया जायेगा, अस्पताल की स्थिति कैसी होगी तथा जीवन साथी की हानि इत्यादि हो सकते हैं।

   इस प्रकार डर को मृत्यु के वर्तमान परिवेश में समझा जाना चाहिए। वृद्धों को अपने जीवन साथी की मृत्यु के साथ तालमेल बैठाना पड़ता है। इस कार्य में पुरूषों की तुलना में महिलायें अधिक कठिनाई का सामना करती हैं। महिलाओं में विधवापन काफी कठिन होता है, जिसके कारण वे दूसरों के प्रसाद पर अपने जीवन को छोड़ देती हैं।

4. **किसी आयु वर्ग के साथ एक स्पष्ट जुड़ाव स्थापित करना** : सामाजिक काफिला परिवार के सदस्यों और दोस्तों या मित्रों का एक समूह है जो सुरक्षा और सहायता प्रदान करता है। कुछ सामाजिक बंधन आयु के साथ करीब होते जाते हैं, कुछ दूर होते जाते हैं तथा कुछ मिल जाते हैं और कुछ भटक जाते हैं। इन संबंधों को संजोये रखने, इनकी सुरक्षा करने और जीवन में निरंतरता बनाये रखने का प्रयास परिवार के वृद्ध लोग करते हैं।

5. **सामाजिक और नागरिक दायित्वों को पूरा करना** : वृद्धावस्था में अन्य संभावित लाभ सामाजिक और नागरिक दायित्वों को पूरा करने के कार्य से संबंधित है। वृद्ध लोग अपने जीवन के अनुभव को संजोकर रखते हैं जिनका प्रयोग युवा लोग अपने विकास में कर सकते हैं।

6. **संतोषजनक शारीरिक जीवन व्यवस्था की स्थापना करना** : संतोषजनक शारीरिक जीवन व्यवस्था की स्थापना करने के लिए वृद्ध लोग प्रयासरत रहते हैं। इन लोगों को ऐसी वस्तुओं की आवश्यकता होती है जिनसे इनका समय कट सके तथा इनको आनंद की प्राप्ति हो। इसके लिए वृद्ध लोग अपने निवास में शांति, गोपनीयता, स्वतंत्रता, रिश्तेदारों से निकटता, अपने सांस्कृतिक समूह के साथ निवास, सस्तापन, परिवहन से निकटता, पुस्तकालय, फिल्में इत्यादि की व्यवस्था करने की चाहत रखते हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

3. मानसिक विकास, विकास का दूसरा आयाम है; पहल आयाम क्या है?

   (क) सामाजिक विकास (ख) संवेगात्मक विकास

   (ग) शारीरिक विकास (घ) इनमें से कोई नहीं

4. इनमें से क्या मानसिक विकास का पक्ष नहीं है?

   (क) संवेदन (ख) परिकल्पना

   (ग) चिंतन (घ) सुंदरता

टिप्पणी

1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (घ)
2. (ख)
3. (ग)
4. (घ)

1.6 सारांश

जीवन काल में होने वाले दैहिक और भौतिक परिवर्तनों को वृद्धि कहते हैं। व्यक्ति में होने वाले परिवर्तन मात्रात्मक रूप में होते हैं तथा माता के गर्भ में गर्भाधान से लेकर लगभग बीस वर्ष की आयु तक दिखाई देते हैं। अर्थात् वृद्धि एक प्रकार से विकास को संकेतिक करती है। दूसरे अर्थों में कहा जाय तो, वृद्धि का आशय शारीरिक आकार में परिवर्तन से है। बदलाव की यह प्रक्रिया प्रायः गर्भाधान के दो सप्ताह के बाद आरम्भ हो जाती है। मानव जीवन में शुरूवात से ही विभिन्न प्रकार के गुणात्मक परिवर्तन होते रहते हैं तथा इन परिवर्तनों का होना जीवन भर चलता रहता है। इन्हीं निरन्तर होने वाले परिवर्तनों का नाम विकास है। मानव जीवन के विभिन्न अवस्थाओं के अन्तर्गत होने वाले सभी गुणात्मक परिवर्तन मानव विकास के अन्तर्गत आते हैं। विकास का यह क्रम निरंतर आबाध गति से चलता रहता है। विकास के क्रम में नयी विशेषताओं का समावेश होता है तथा पुरानी विशेषतायें समाप्त होती जाती हैं। वृद्धि व विकास को प्रायः पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयोग किया जाता है। विकास की दर व्यक्ति दर व्यक्ति भिन्न होती है, विकास सामान्य से विशिष्ट की ओर बढ़ता है, अधिकांश लक्षण विकास में सहसंबद्ध हैं। वृद्धि और विकास आनुवंशिकता और पर्यावरण दोनों का एक उत्पाद है। विकास अनुमानित है जबकि वृद्धि अवलोकनीय है। विकास संरचनात्मक और कार्यात्मक परिवर्तन लाता है जबकि वृद्धि संरचनात्मक परिवर्तन लाती है।

विकासात्मक कार्य एक व्यक्ति की आवश्यकता और सामाजिक मांग के बीच का मध्य मार्ग है। विकासात्मक कार्य मानव जीवन में आजीवन मानव विकास के उभरते क्षेत्र में प्रारम्भिक और महत्वपूर्ण योगदानकर्ता है। इन कार्यों की सफलता से व्यक्ति को सुख की प्राप्ति होती है तथा उसके मन को प्रसन्नता होती है। जब वह असफल होता है तो वह दुखी भी होता है। यदि मानव के इन कार्यों को समाज स्वीकृत करता है तो वह भावविभोर हो जाता है तथा यदि समाज अस्वीकृत कर देता है तो वह भविष्य में किये जाने वाले कार्यों के प्रति सशंकित होता है।

विकासात्मक कार्यों की अवधारणा मानती है कि समाज कार्यों की एक लंबी श्रृंखला आधुनिक समाज के मानव के विकास की विशेषता है। इनमें से कुछ कार्य बचपन और किशोरावस्था में सम्पन्न होते हैं तथा कुछ वयस्कता के दौरान उत्पन्न होते हैं एवं कुछ तो वृद्धावस्था में भी सम्पन्न होते हैं।

1.7 मुख्य शब्दावली

टिप्पणी

- **वृद्धि** : सम्पूर्ण जीवन काल में होने वाले दैहिक और भौतिक परिवर्तनों को वृद्धि कहते हैं।
- **विकास** : मानव जीवन में शुरूवात से ही विभिन्न प्रकार के गुणात्मक परिवर्तन होते रहते हैं तथा इन परिवर्तनों का होना जीवन भर चलता रहता है। इन्हीं निरन्तर होने वाले परिवर्तनों का नाम विकास है।
- **विकासात्मक कार्य** : विकासात्मक कार्यों की अवधारणा मानती है कि समाज कार्यों की एक लंबी श्रृंखला आधुनिक समाज के मानव के विकास की विशेषता है। इनमें से कुछ कार्य बचपन और किशोरावस्था में सम्पन्न होते हैं तथा कुछ वयस्कता के दौरान उत्पन्न होते हैं एवं कुछ तो वृद्धावस्था में भी सम्पन्न होते हैं।

1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. वृद्धि का अर्थ बताइए।
2. विकास से क्या आशय है?
3. वृद्धि की मनोवैज्ञानिक अवधारणा क्या है?
4. निरंतर विकास का सिद्धांत क्या है?
5. विकास के प्रमुख आयामों का नामोल्लेख कीजिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. वृद्धि की अवधारणा स्पष्ट करते हुए विकास को परिभाषित कीजिए।
2. वृद्धि व विकास की प्रकृति स्पष्ट कीजिए।
3. वृद्धि एंव विकास के सिद्धांतों की विवेचना कीजिए।
4. विकास के विविधि आयामों को समझाइये।
5. विकासात्मक कार्यों पर अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।

1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. जायसवाल, डॉ0 सीताराम, ''शिक्षा मनोविज्ञान'', प्रकाशन केन्द्र, लखनऊ, वर्ष–2004.
2. राय, अमरनाथ एवं अस्थाना, मधु, ''आधुनिक परामर्शन मनोविज्ञान'', मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, वर्ष–2012.
3. जिंसवर्ट, पी0, ''फण्डामेण्टल्स आफ सोशियोलोजी'', ओरियन्स, लांगमैन्स, बाम्बे, वर्ष, 1959.

टिप्पणी

4. यंग, किम्बाल, ''ए हैण्ड बुक ऑफ सोशल साइकोलाजी''.

5. प्रसाद, डॉ0 आद्य, ''सरल सामान्य मनोविज्ञान'', मनोहर पब्लिकेशन, गोरखपुर, वर्ष, 1984.

6. मिश्र, डॉ0 पी0 डी0, ''मनो–सामाजिक सम्बन्धों के मूलतत्व'' उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, वर्ष, 1986.

इकाई 2 मनो–क्रियात्मक एवं मनो–सामाजिक विकास

टिप्पणी

संरचना

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 मनो–क्रियात्मक विकास
  2.2.1 मनो–क्रियात्मक विकास की परिभाषायें
  2.2.2 मनो–क्रियात्मक विकास की अवस्थायें
  2.2.3 मनो–क्रियात्मक विकास की विशेषतायें
  2.2.4 मनो–क्रियात्मक विकास का महत्व
2.3 मनो–सामाजिक विकास
  2.3.1 मनो–सामाजिक विकास की अर्थवत्ता एवं विशिष्टता
  2.3.2 मनो–सामाजिक विकास के विविध स्वरूप
  2.3.3 मनो–सामाजिक विकास का महत्व
2.4 निष्कर्ष
2.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.6 सारांश
2.7 मुख्य शब्दावली
2.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.9 सहायक पाठ्य सामग्री

2.0 परिचय

किसी बालक में मनो–गत्यात्मक या मनो–क्रियात्मक तथा मनो–सामाजिक विकास दो अलग–धारणायें हैं। मनो–क्रित्यात्मक विकास बालक में होने वाले गत्यात्मक शारीरिक विकास के बारे में प्रकाश डालता है जिसमें किसी बालक की मांसपेशियों, रूधिर वाहनियों तथा उसकी हड्डियों में होने वाले विकास एवं बदलाव शामिल हैं जबकि मनो–सामाजिक विकास बालक के वातावरण में होने वाले विकास से संबंधित है।

स्पष्ट है कि 'शरीर का आकार' से आशय बालक के कद तथा वजन का समग्र रूप होता है। किसी बालका के कद तथा वजन को मिलाकर जो आकृति बनती है, वह शरीर कहलाती है। चूंकि शरीर की लम्बाई तथा वजन विकास के लिए ही आदर्श या तरीके अनुसार बढ़ते हैं, एक के समानान्तर दूसरा भी धीमी गति से बढ़ता है, लेकिन इसके विपरीत, बालक के जन्म से परिपक्वता तक लम्बाई में कुल वृद्धि का योग, वजन की कुल वृद्धि के योग से कम होता है।

शरीर का आकार वंशानुक्रम तथा पर्यावरण के प्रभाव से नियंत्रित होता है। वंशानुक्रम द्वारा नियंत्रण अन्तःस्रावी ग्रंथियों के द्वारा स्रावित किये जाने वाले हार्मोन्स के स्रवण द्वारा ही सम्भव हो पाता है। यदि इन हार्मोन्स का कम मात्रा में स्रवण होता है तो बालक की वृद्धि सामान्य की अपेक्षा जल्दी समाप्त हो जाती है तथा यदि हार्मोन्स का स्रवण अधिक होता है तो वृद्धि असामान्य रूप से अत्यधिक हो जाती है। शरीर के

टिप्पणी

आकर को वातावरण भी नियंत्रित करता है। यह नियंत्रण गर्भावस्था के वातावरण की स्थिति तथा जन्म के बाद वातावरण की स्थिति को नियंत्रित करके किया जाता है। जैसा कि हम जानते हैं कि कुपोषणु अत्यधिक धूम्रमान माता का दबाव व तनाव तथा अन्य स्थितियां गर्भस्थ शिशु को प्रभावित करती हैं जिसके कारण शिशु का आकार प्रभावित होता है। अतः शिशु के विकास का अध्ययन क्रियात्मक विकास में किया जाता है। क्रियात्मक विकास में बालक पहले चार–पांच वर्षों में सामान्य गतिशीलता पर नियंत्रण करता है। इस प्रकार की गतिशीलता में शरीर का बड़ा भाग सक्रिय होता है। पांच वर्ष के बाद शरीर के छोटे अंग सक्रिय होते हैं। छोटी मांसपेशियां सक्रिय होती हैं जिससे बालक किसी वस्तु को पकड़ता है, किसी वस्तु को दूर फेंकता है, लिखता है एवं अन्य उपकरणों का प्रयोग करने लगता है। इस प्रकार बालक में क्रियात्मक योग्यताओं एवं क्रियात्मक कौशलों का विकास हो जाता है। इस विकास के कारण बालक अपने चारों तरफ के भौतिक और मनोवैज्ञानिक पर्यावरण में गतिशील हो जाता है। उसे इस प्रकार के विकास के कारण अपने चारों तरफ के वातावरण से समायोजन करने में सुविधा होती है। इस तरह जीवन में किसी प्रकार की सफलता को प्राप्त करने के लिए क्रियात्मक विकास की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बहुत आवश्यकता होती है।

प्रत्येक बालक किसी न किसी सामाजिक वातावरण में रहता है। इस वातावरण से ही उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। बालक के चारों तरफ के वातावरण में उपस्थित व्यक्ति और वस्तुएं समान रूप से महत्वपूर्ण नहीं होती हैं। इनमें से कुछ अधिक महत्वपूर्ण होती हैं और कुछ कम महत्वपूर्ण होती हैं। बालक की इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति कभी सरल ढंग से हो जाती है और कभी उसकी इस प्रकार की पूर्ति में कुछ न कुछ बाधा पड़ती हैं या समय अधिक लगता है। जब उसकी पूर्ति में समय अधिक लगता है या बाधा आती है तब उसमें तनाव उत्पन्न हो जाता है। यह कमी उसको क्रोधित करती है तथा वह इसके कारण दुःखी और निराश भी हो जाता है।

कुछ दशाओं में और कुछ लोगों के साथ बालक को प्रसन्नता और संतुष्टि मिलती है, जिनके साथ उसका अच्छा समायोजन होता है। कुछ दशाओं में और कुछ लोगों के साथ उसे अप्रसन्नता और असंतुष्टि मिलती है, जिनके साथ उसका समायोजन अच्छा नहीं होता है। प्रत्येक बालक का वर्तमान और भविष्य का जीवन सुखी और आनंददायक तभी हो सकता है जब उसका व्यवहार समायोजित हो। अतः बालक को मनो–सामाजिक समायोजन करना पड़ता है। मनो–सामाजिक समायोजन में बालक अपने परिवार तथा अन्य व्यक्तियों के साथ समायोजन के तरीके सीखता है जो उसके जीवन के लिए अत्यंत आवश्यक होते हैं।

प्रस्तुत इकाई में मनो–क्रियात्मक एवं मनो–सामाजिक विकास से संबंधित विविध तथ्यों की विवेचना की जा रही है।

टिप्पणी

2.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- मनो–क्रियात्मक विकास की अर्थवत्ता–महत्ता समझ पाएंगे;
- मनो–क्रियात्मक विकास की अवस्थाओं पर प्रकाश डाल पाएंगे;
- मनो–सामाजिक विकास के विविध स्वरूपों से अवगत हो पाएंगे।

2.2 मनो–क्रियात्मक विकास

मनो–क्रियात्मक विकास (Psychomotor) में विभिन्न क्रियात्मक योग्यताओं के विकास तथा कौशलों के विकास का अध्ययन किया जाता है। जब बच्चे का जन्म होता है तब उस समय शिशु असहाय तथा अन्य लोगों के अधीन होता है। उसे जिस भी अवस्था में छोड़ दिया जाता है उसी अवस्था में पड़ा रहता है। जब उसके नाड़ियों तथा मांसपेशियों का विकास होने लगता है तो इसके साथ ही गतिविधियों पर नियंतत्र भी होने लगता है। नाड़ियों तथा मांसपेशियों की क्रिया विधियों को नियंत्रित करने वाली योग्यताओ को मनो–क्रियात्मक योग्यता कहते हैं।

2.2.1 मनो–क्रियात्मक विकास की परिभाषायें

मनो–क्रियात्मक विकास की परिभाषाओं को कुछ विद्वानों के मतानुसार निम्नलिखित रूपों में प्रस्तुत किया जा रहा है–

जेम्स ड्रेवर के अनुसार, ''मनो–क्रियात्मक विकास का संबंध बालक की उन संरचनाओं एवं क्रियाओं से है, जो मांसपेशियों की क्रियाओं से संबंधित होती हैं अथवा इसका संबंध जीवन की उस अनुक्रिया से होता है, जो वह किसी परिस्थिति विशेष के प्रति करता है।''

हरलॉक के अनुसार, ''मनो–क्रियात्मक विकास का अर्थ मांसपेशियों की गतिविधियों के नियंत्रण से है, जो जन्म के समय निरर्थक तथा अनिश्चित होती हैं।''

क्रो एवं क्रो के अनुसार, ''मनो–क्रियात्मक योग्यताओं का तात्पर्य उन विभिन्न प्रकार की शारीरिक गतियों से है जो नाड़ियों एवं मांसपेशियों के संयोजन के द्वारा सम्भव है।''

क्लिफोर्ड मोर्गन के अनुसार, ''शरीर के आधार पर इस शब्द का प्रयोग मानव तथा पशु जो गतियां करते हैं, उसके संदर्भ में किया जाता है; जैसे– चलना, तैरना, पकड़ना, लेखन करना आदि। मौखिक अथवा बौद्धिक विकास के भेद बताने के लिए हम मनो–क्रियात्मक विकास शब्द का प्रयोग करते हैं।''

इस प्रकार उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि मनो–क्रियात्मक विकास का आशय है–बालक में जो भी शारीरिक विकास होता है एवं परिस्थिति के अनुसार जो भी वह कार्य करता है उसमें वह अपने सभी नाड़ियों एवं मांसपेशियों पर नियंत्रण करे।

टिप्पणी

2.2.2 मनो–क्रियात्मक विकास की अवस्थायें

जब मॉ की फैलोपियन ट्यूब में अण्डाणु एवं शुक्राणुओं का मिलन होता है तब भ्रूण का निर्माण होता है। फैलोपियन ट्यूब से भ्रूण माँ के गर्भ में सात दिनों के बाद चला जाता है, जहां पर उसका विकास होता है। यहीं से मानव जीवन का आरम्भ शुरू होता है। मॉ के गर्भ में ही भ्रूण शरीर का रूप धारण करता है तथा उसकी वृद्धि व विकास होता है। इस समय बालक के अन्दर काफी परिवर्तन होते हैं। बालक मॉ के गर्भ में अपने शरीर को घुमाता है तथा इधर उधर मोड़ता है। मॉ के गर्भ में एवं जन्म के बाद बालक में मनो–क्रियात्मक विकास सम्पन्न होता है।

बालक के मनो–क्रियात्मक विकास की अवस्थाओं को हम निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से समझने का प्रयास करेगें–

1. गर्भकालीन मनो–क्रियात्मक विकास : जब बालक मॉ के गर्भ में रहता है तो बाहर से ऐसा प्रतीत होता है कि बालक को अंधकार पसंद है या उसे आवश्यक रूप से अंधकार में रहना पड़ता है। गर्भाधान के तीन–चार माह में उसका शरीर ही बनकर धीरे–धीरे विकसित होता है। छठवें माह के आस–पास उसकी मांसपेशियों में कुछ परिपक्वता का आना शुरू होता है। गर्भकालीन अवस्था में भी कुछ मनोवैज्ञानिकों ने बच्चों का अध्ययन किया और यह देखने का प्रयास किया कि बच्चों में इस अवस्था में कौन–कौन सी क्रियायें उत्पन्न होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है गर्भस्थ शिशु में उलटने, शरीर ऐंठने, पैर झटकने, हाथ फेंकने एवं सिर से धक्का देने की क्रियायें गर्भ में भी होती हैं, जिसमें भिन्नतायें पाई जाती हैं। जो बालक गर्भकाल में अधिक क्रियाशील रहता है वह बाद के समय में भी क्रियाशील रहता है।

गर्भकालीन विकास में शिशु का विकास निम्नांकित तीन स्तरों में होता है–

संरचनात्मक अवधि : सामान्यतः पूर्वप्रसव विकास की अवधि 266 दिन की मानी जाती है। यह समय गर्भधारण के पूर्व वाले मासिक धर्म से 280 दिन माना जाता है। जिस कोशिका से गर्भधारण होता है वह पुरन्त अपने को दो भागों में बांट लेती है, फिर चार में और इसी प्रकार का क्रम चलता रहता है। विकास के साथ–साथ कुछ कोशिकायें गोले के रूप में बन जाती हैं। इस पुंज में तीन परतों का क्रमिक निर्गम होता है और इन्हीं से विशिष्ट रचनाओं का जन्म होता है।

बाहर की परत का संबंध ज्ञानेन्द्रियों तथा नाड़ी तंत्र से होता है। मध्य परत से अस्थि पंजर, पेशियां तथा रूधिर वाहनियां विकसित होती हैं। अन्दर की परत से जीवन संबंधी विभिन्न अंगों का विकास होता है। निषेचन के दूसरे सप्ताह में वृद्धि करता हुआ भ्रूण गर्भाधान नाल या फैलोपियन ट्यूब द्वारा गर्भाशय में चिपक जाता है। भ्रूण का हृदय गर्भाधान के तीन सप्ताह के बाद गति करने लगता है।

भ्रूणकाल : पूर्व प्रसव के छठवें सप्ताह से पहचानने योग्य कुछ रचनाओं का विकास होने लगता है। इस आयु में भ्रूण एम्नियोन परत या झिल्ली में बंद रहता है जिसमें एक तरल पदार्थ 'एम्नियोटिक द्रव्य' भरा रहता है। इस द्रव्य के द्वारा ही शिशु विकसित होता है। छः सप्ताह तक भ्रूण निष्क्रिय पड़ा रहता है। आवश्यक संग्राहक तथा प्रभावक यद्यपि उपस्थित रहते हैं लेकिन उनमें कोई संबंध नहीं होता है। तीसरे

टिप्पणी

सप्ताह में न्यूराल ट्यूब या अहार नाल का विकास होता है। एक महीने के अंत तक भ्रूण 1/6 इंच लम्बा हो जाता है। इस स्थिति में माता को पता उसका चलता है। स्तनों में भारीपन आ जाता है, पेशाब बार–बार जाना पड़ता है। मॉ को सिरदर्द व जुकाम की शिकायत हो जाती है। दूसरे माह तक भ्रूण ड़ेढ इंच लम्बा हो जाता है। धीरे–धीरे सभी अंगों का विकास होता है।

फेटेल अवधि : इस अवधि की शुरूआत गर्भ धारण के आठवें सप्ताह से होती है, और जन्म तक चलती है। इस काल में भ्रूण की सभी संरचनाओं का विकास हो जाता है। तीसरे महीने में भ्रूण 3 इंच लम्बा हो जाता है तथा उसका भार एक औंस का हो जाता है। चौथे महीने में वह 7 इंच लम्बा तथा चार औंस का भारी हो जाता है। पांचवे महीने में भ्रूण की लम्बाई 10 इंच तथा भार 10 औंस का हो जाता है। छठवें महीने में शरीर के सभी अंग पूर्ण रूप से विकसित हो जाते हैं। यदि इस अवस्था में बच्चे का जन्म हो जाय तो वह कुछ घंण्टे ही जीवित रह सकता है।

सातवें महीने में भ्रूण 15 इंच लम्बा तथा 2 पौण्ड तक भारी हो जाता है। आठवें महीने में भ्रूण की लम्बाई 16 इंच की हो जाती है तथा उसका भार 4 पौण्ड तक का हो जाता है। इस समय यदि बच्चे का जन्म हो जाता है तो उसके जीवित रहने के अवसर अधिक होते हैं। नवें महीने के अन्त तक भ्रूण 20 इंच लम्बा तथा साढ़े सात पौण्ड भारी हो जाता है। फेटेल की अवधि जन्म लेते ही समाप्त हो जाती है और शिशु काल शुरू हो जाता है।

मां की अधिक क्रियाशीलता के कारण ऊर्जा का ह्रास का होता है, इसलिये बालकों का भार कम होता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि माता की थकान का बच्चे के ऊपर प्रभाव पड़ता है, क्योंकि बच्चे की क्रियाशीलता कम हो जाती है। अतः गर्भधारण के समय माताओं को थकान देने वाले कार्यों को नहीं करना चाहिए।

रिचर्ड्स के अध्ययनों से इस बात की जानकारी होती है कि माता की क्रियाशीलता का बच्चे के ऊपर कोई अविधायी प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि माता की व्यस्तता में बालक की क्रियाशीलता और बढ़ जाती है।

2. बचपनावस्था में मनो–क्रियात्मक विकास : इस अवस्था में मांसपेशियों के नियंत्रण संबंधी विकास में सामान्य अवस्थायें खोजी जा सकती हैं। इस अवस्था में बालक भिन्न–भिन्न भाग नियंत्रित करने लगता है। इस अवस्था में शरीर का मनो–क्रियात्मक विकास चार प्रमुख भागों में होता है–(अ) सिर के भाग में होने वाला मनो–क्रियात्मक विकास (ब) धड़ के भाग में होने वाला मनो–क्रियात्मक विकास (स) हाथ में होने वाला मनो–क्रियात्मक विकास तथा (द) पैर के भाग में होने वाला मनो–क्रियात्मक विकास।

अवस्थाओं में मांसपेशियों के नियंत्रण का कारण सिर्फ व्यक्तिगत भिन्नतायें ही नहीं हैं, बल्कि यह वृद्धि, सीखना एवं प्रशिक्षण के अवसर एवं अभिप्रेरणा के भी कारण हो सकते हैं। संक्षेप में बचपनावस्थाकालीन मनो–क्रियात्मक विकास का वर्णन इस प्रकार है–

टिप्पणी

(अ) सिर के भाग में होने वाला मनो–क्रियात्मक विकास : बालक के सिर का विकास सर्वप्रथम होता है तथा यह सबसे पहले परिपक्व भी होता है। इसमें सिर की क्रियायें आदि प्रमुख होती हैं। इन क्षमताओं की गति तीव्र होती है। जन्म के बारह घण्टे के पश्चात् ही बालक गतिशील वस्तुओं से प्रतिक्रिया करने लगता है।

बच्चों के जन्म के कुछ समय बाद तीन प्रकार की नेत्र गतियां पाई जाती हैं–1. समानान्तर नेत्र गति 2. लब्बवत् नेत्र गति तथा 3. वृत्ताकार नेत्र गति।

तीनों नेत्र गतियों का विकास क्रम के अनुसार ही होता है। समानान्तर नेत्र गति की गति, दाहिने से बायें देखना तथा बायें से दायें देखना की गति का विकास जन्म के दूसरे–तीसरे महीने में होता है। लब्बवत् नेत्र गति का विकास, ऊपर से नीचे तथा नीचे से ऊपर देखना की गति का विकास तीसरे तथा चौथे महीने के आस–पास होता है। वृत्ताकार नेत्र गति की क्षमता कुछ दिन के बाद शुरू होती है। चौथे महीने की समाप्ति के साथ बच्चा जटिल से जटिल नेत्रगति कर सकता है।

बच्चे में मनो–सामाजिक मुस्कराहट से भिन्न शरीर छूने पर मुस्कराने की क्रिया जन्म प्रथम सप्ताह में देखने को मिलती है। चौथे महीने के आस–पास दूसरे को मुस्कराते हुए देखकर बच्चा भी मुस्कराने लगता है। जन्म के बीस मिनट के बाद यदि बच्चे को पेट के बल लिटा दिया जाता है तो वह सिर उठाने लगता है। पीठ के बल लेटने पर वह सिर पांच महीने के पूर्व नहीं उठा पाता है।

(ब) धड़ के भाग में होने वाला मनो–क्रियात्मक विकास : धड़ के भाग में होने वाला मनो–क्रियात्मक विकास उलटने, बैठने से संबंधित होता है। जन्म के बाद की स्थिति में बालक उतना ही परिपक्व नहीं रहता कि वह एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाने के लिए अपने शरीर को मोड़ सके। दो माह में उसमें कुछ क्रियाशीलता देखने को मिलती है। जब बालक को करवट के बल लिटा दिया जाता है तो वह पुनः पीठ के बल हो जाता है। चार माह में के बालक में करवट लेने की प्रक्रिया तेज हो जाती है। वह पीट के बल सोने पर भी करवट लेने लगता है। छठवें महीने के आस–पास पीठ के बल सोया हुआ बालक उलटकर पेट के बल प्रायः हो जाता है। यह क्रिया अचानक न होकर धीरे–धीरे होती है। यह सब विकास के कारण होता है। बच्चे की क्रिया सिर से प्रारम्भ होकर पैर की ओर बढ़ती है। इसको संक्षेप में निम्न सारणी से समझा जा सकता है–

अवस्था	अनुमानित महीने
1. पीठ के बल उठना	
1. पीठ के बल लेटे–लेटे सिर उठाना	1.8
2. लुढ़कने का प्रयास करना	4.8
3. लुढ़कने का अभ्यास	4.5
4. लढ़कना आसान स्वतः किसी उद्देश्य को पाने के लिए लुढ़कना जैसे, खिलौने तक पहुंचना	5.8

टिप्पणी

2. स्वतंत्र बैठना

1. प्रत्यक्ष रूप से बैठने का प्रयत्न, पेट के बल उठना 6.5
2. पेट से बैठने की स्थिति में पहुंचने की प्रथम सफलता 7.6
3. बैठने का अभ्यास (कठिनाई से) 7.8
4. ठीक से बैठना या किसी ओर ध्यान लगाना 8.8

3. स्वतंत्र खड़ा होना

1. पैरों पर खड़े होने के लिए फर्नीचर का सहारा लेना 8.1
2. खड़े होने की प्रथम सफलता 8.3
3. खड़े होने में आनंद प्राप्त करना तथा बिना सहारे खड़ा होना 8.8
4. कदम बढ़ाने के लिये खड़ा होना 9.0

4. स्वतंत्र चलना

1. स्वतंत्र रूप से चलने का प्रयत्न करना, गिर पड़ना 8.8
2. कई कदम चलने का प्रथम प्रयास 11.3
3. अकेले चलने का बार–बार प्रयास 12.5
4. चलने में पूर्व नियंत्रण प्राप्त कर लेना तथा किसी उद्देश्य के लिए चलना 13.5

सहारा पाकर बैठने की क्रिया का विकास 16 सप्ताह के बालक में उद्भूत होता है। पीठ सीधी करके बैठने की क्रिया में 20 सप्ताह लगते हैं। 28 सप्ताह में बालक को सहारे की आवश्कता नहीं प्रतीत होती है और वह पीठ सीधी करके बैठता है। नव–दस महीने में बच्चा 10 मिनट इस अवस्था में बैठ सकता है। पहले बालक गर्दन झुका कर बैठता है किन्तु बाद में परिपक्वता बढ़ने के साथ उसका मांसपेशियों पर नियंत्रण बढ़ाता जाता है।

(स) हाथ में होने वाला मनो–क्रियात्मक विकास : इस मनो–क्रियात्मक विकास के अन्तर्गत पकड़ने की क्रिया मुख्य रूप से अन्तर्निहित होती है। बालक जब बड़ा होने लगता है तो उसके हाथ की मांसपेशियों में परिपक्वता आने लगती है। इस समय बालक किसी भी वस्तु को हाथ से पकड़ने का प्रयास करता है। जब कभी बालक किसी वस्तु को पकड़ता है और वह वस्तु उसको हानि नहीं पहुंचाती है तो वह उसके प्रति सकारात्मक संवेग रखता है। जिस वस्तु के द्वारा उसको नुकसान पहुंचता है उसके प्रति वह नकारात्मक संवेग रखता है। हाथों में परिपक्वता आने पर बालक अपने हाथ की क्रियाओं पर नियंत्रण करने लगता है। बालकों में इस समय अंगूठा चूसने की क्रिया दिखाई पड़ती है। किसी वस्तु को पकड़ने की क्रिया में बालक उस वस्तु की ओर हाथ बढ़ाता है लेकिन अपरिपक्व मांसपेशियों एवं नियंत्रण की कमी के कारण वह उस वस्तु को पकड़ नहीं पाता है। इस समय झटके से हाथ उठाने की क्रिया दिखाई पड़ती है। 10–12 महीने की अवस्था में वह अंगुली से संकेत करने लगता है। किसी वस्तु को छूने की क्रिया का विकास 4–12 महीने की अवस्था के मध्य होता है। बालक में इस समय वस्तु को पकड़ने की क्रिया का विकास होता है। हॉलवर्सन, ने धारणात्मक व्यवहार पर विभिन्न आयु वर्ग के बच्चों के संबंध में अध्ययन करके कुछ निष्कर्ष निकाला है, जो निम्न हैं–

टिप्पणी

1. रंगीन वस्तुओं पर बहुत छोटे बच्चों की आंखें केन्द्रित नहीं हो पाती हैं।
2. रंगीन वस्तुओं को पांच सेकेण्ड तक देखने की क्रिया 16 सप्ताह के बच्चों में पाई जाती है।
3. चौबीस सप्ताह के बच्चों में रंगीन वस्तुओं को छूने की क्रिया का विकासशील रूप देखने को मिलता है।
4. 40 सप्ताह के बालक को रंगीन वस्तुओं तक पहुंचने में कठिनाई नहीं होती है। वे सरलतापूर्वक रंगीन वस्तुओं तक पहुंच जाते हैं।

इस मनोवैज्ञानिक ने धारणा–क्रिया का विकास निम्न प्रकार से माना है–

1. हाथ फैलाना पहले शुरू होता है।
2. हाथ फैलाने के बाद वस्तु को छूने की क्रिया होती है।
3. बच्चा उस वस्तु को पकड़ने की कोशिश करता है।
4. इसके बाद वस्तु को मुठ्ठी में पकड़ने की कोशिश करता है

इस क्रिया में पहले पूरी बांह, फिर कोहनी, इसके बाद कलाई और अन्त में अंगुलियों की क्रियायें आती हैं।

ग्रेसेल ने बच्चों में गेंद फेंकने की क्रिया का अध्ययन किया। इस क्रिया की शुरूआत 6 महीने में होती है। एक वर्ष का बालक गेंद को किसी भी निश्चित दिशा में फेंकता है। दो वर्ष की आयु में बच्चा गेंद को निश्चित दिशा में काफी दूर तक फेंक सकता है।

(द) पैर के भाग में होने वाला मनो–क्रियात्मक विकास : बच्चों के पैरों में होने वाली क्रियायें निम्नलिखित हैं–1. चलना, 2. दौड़ना, 3. उछलना, 4. कूदना, 5. चढ़ना, 6. नाचना। इस अवस्था में इन सभी क्रियाओं का पूर्णतः विकास नहीं होता है। इस अवस्था में चलने की क्रिया में झटके के साथ पैर निकालना, घिसटना, रेंगना इत्यादि क्रियायें आती हैं।

इस अवस्था में बच्चे में लुढ़कते हुए चलने की प्रक्रिया शुरू होती है। इसके बाद घिसटने व रेंगने की प्रक्रिया सम्मिलित होती है। पेट के बल जमीन पर पड़ा बच्चा कोहनी की सहायता से घिसटता है। यह क्रिया नौवें महीने में पूर्ण रूप से विकसित हो जाती है। इसके बाद बच्चा खड़ा होने का अभ्यास करता है। खड़ा होने में वह किसी वस्तु का सहारा लेता है। इस क्रिया में सिर व धड़ आगे झुके रहते हैं। इसी समय बच्चा किसी सहारे से चलने का भी अभ्यास करता है, कुर्सी या किसी वस्तु को पकड़कर वह चलता है। इन सब क्रियाओं का पूर्णतः विकास 18 महीने के लगभग तक हो जाता है।

3. बाल्यावस्था में मनो–क्रियात्मक कौशलों का विकास : कुछ कुशलतायें एक तरह के सांस्कृतिक परिवेश में और उस परिवेश में रहने वाले के लिए समान एवं वयस्कों की आशाओं के अनुकूल सामान्य पायी जाती हैं। सामान्यतया समझा जाता है कि बच्चे को स्वतः पढ़ना चाहिए, स्वतः तैयार होना चाहिए, लेकिन बहुत कम लड़के ऐसा करते हैं। माता–पिता को इसके लिए बार–बार कहना पड़ता है। आवश्यकतानुसार

टिप्पणी

माता–पिता उसकी सहायता भी करते हैं, तैयार भी करते हैं। अपने आप लड़के खेलने जाने के अलावा अन्य कार्यों में रूचि नहीं रखते हैं। इसके लिए अभ्यास एवं प्रशिक्षण आवश्यक हो जाता है। कुछ कुशलताओं को जो समाज से मान्यता प्राप्त हैं, उन्हें सीखने के लिए लड़कों से आशा की जाती है। ऐसी कुछ कुशलतायें इस प्रकार हैं–

(i) हाथ की कुशलतायें : बच्चे का हाथ की मांसपेशियों पर नियंत्रण, कन्धों की मांसपेशियों पर नियंत्रण एवं कलाई पर नियंत्रण बचपन में बहुत तीव्र गति से आरम्भ होता है। इसका पूर्ण नियंत्रण 12 वर्ष की आयु में पूरा होता है। अंगुलियों की बारीक मांसपेशियों का विकास धीमी गति से होता है। व्यवस्थित व तीव्र रूप से लिखना एवं हारमोनियम बजाने संबंधी कुशलता का विकास 12 वर्ष या इससे अधिक आयु में होता है। इस प्रकार की कुशलताओं के विकास के दौरान अधिकांश बच्चे विकास की सामान्य अवस्थाओं से होकर गुजरते हैं।

(अ) स्वतः भोजन करना : प्रथम वर्ष के अन्त तक बालक जिस बोतल से दूध पीता है और जिस चम्मच की सहायता से पीता है उसे पकड़ने लगता है। छः माह की उम्र में वह बोतल मुंह में रखने पर पकड़ लेता है। इसके एक महीने के बाद वह बोतल को मुंह से हटाता है और पुनः मुंह में लगा भी लेता है। प्रथम साल के अन्त में क्षणिक रूप से वह बोतल को पकड़ता है और चम्मच की सहायता से खाने का प्रयास करता है। पहले वह कप दोनों हाथों से पकड़ता है परन्तु धीरे–धीरे दोनों हाथों का प्रयोग न करके एक हाथ से ही कप पकड़ता है। दूसरे साल के अन्त तक बालक चम्मच का प्रयोग करने लगता है। तीसरे साल रोटी पर वह जैम या मक्खन चाकू से लगा लेता है। एक साल के बाद वह चाकू का प्रयोग भी करता है। इस तरह 10 साल की अवस्था तक आते–आते वह खाने में प्रयुक्त उपकरणों का अच्छी प्रकार से प्रयोग करने लगता है।

(ब) स्वतः सजना : डेढ़ वर्ष से साढ़े तीन वर्ष की आयु तक बालक कपड़ा पहनने, जूता पहनने, मोजा पहनने से संबंधित कुशलताओं का तेजी से विकास कर लेता है। पांच वर्ष की आयु में बालक स्वतः तैयार हो जाता है परन्तु टाई नहीं बांध पाता है। छः वर्ष की उम्र तक बालक टाई भी बांधना सीख लेता है। छः वर्ष की अवस्था में बच्चा बिना आंख का प्रयोग किये अपने शर्ट के बटन भी बन्द करना सीख जाता है।

(स) स्वतः बाल संवारना : बालक अपनी शारीरिक सजावट के साथ ही बाल संवारने की कुशलता को भी विकसित कर लेता है। दो–तीन वर्ष की आयु में बालक अपने आप अपना बाल संवारने लगता है। जब वह प्राथमिक स्कूल में पहुंचता है तो स्वतः कंघे से बाल संवारता है, जबकि उसे सहायता की आवश्यकता पड़ती है।

बच्चे प्रथम वर्ष में पानी के साथ खेलते हैं। दूसरे वर्ष में अपने आप स्नान भी कर लेते हैं। छः से सात साल की आयु में बालक शौच के बाद अपने पीछे का हिस्सा भी धोने लगते हैं।

टिप्पणी

(द) लिखना : बालक प्रथम वर्ष की अवस्था में पेंसिल पकड़ने का प्रयास करता है। 18 महीने की आयु में पन्ने के बीच में रेखा की तरह कोई चीज खींचने का प्रयास करता है। तीन वर्ष की आयु में वह साधारण चिन्ह बनाने लगता है, जिन्हें अक्षर के रूप में नहीं पहचाना जा सकता है। छः वर्ष की आयु में जैविक रूप में बालक लिखने के लिए तैयार हो जाता है। लिखने की परिपक्वता सात–आठ वर्ष की आयु में आती है।

(य) नकल करना : ज्यामितीय तस्वीरों को नकल करना बालक के लिए बहुत कठिन होता है। इसमें संबंधों को भी समझना होता है। इसके लिए हाथ, कलाई, मस्तिष्क का विकास आवश्यक होता है। नकल करने की क्रिया का विकास पांच वर्ष की आयु में शुरू होकर दस वर्ष की आयु तक चलता है। ढ़ाई से पांच वर्ष की आयु में साधारण ज्यामितीय तस्वीर का बालक नकल कर लेते हैं। इसमें बहुत सी गलतियां होती हैं। इसमें मस्तिष्क का महत्वपूर्ण योगदान रहता है।

(र) गेंद फेंकना एवं पकड़ना : गेंद फेंकने एवं पकड़ने में हाथ एवं आंख का संतुलन आवश्यक होता है। कुछ बच्चे दो साल के पहले गेंद फेंकने लगते हैं तथा कोई चार साल में कुछ ठीक ढंग से फेंक सकते हैं। छः वर्ष की आयु में अधिकांश बच्चे कुशल हो जाते हैं परन्तु इनमें व्यक्तिगत भिन्नतायें होती हैं।

(ल) ब्लाक (ढांचा या प्रारूप) बनाना : बच्चे पहले एक स्थान से दूसरे स्थान तक ब्लाक ले जाते हैं और अनियंत्रित ढंग से कुछ निर्मित करते हैं, ढेर में इकठ्ठा करते हैं। तीन वर्ष की आयु में नियमित रूप से किसी ढांचा को रूप देते हैं। धीरे–धीरे वे जटिल प्रारूप का निर्माण करने लगते हैं।

(ii) पैर की कुशलतायें : दो साल की आयु में बालक किसी अन्य की मदद से अपने पैरों पर खड़ा होने लगते हैं। तीसरे साल में बच्चे किसी अन्य की सहायता लिये बिना ही अपने पैरों पर खड़े होने लगते हैं। पांच से छः साल में बच्चे अपने पैरों पर अच्छे तरीक से चल सकते हैं। पैरों की कुशलताओं के बारे में जानने के लिए हमें निम्न बिन्दुओं को समझना होगा।

(अ) दौड़ना : पांच से छः साल के बच्चे दौड़ने के साथ–साथ खेलने भी लगते हैं। दौड़ने के बाद वह तीव्र गति के साथ दौड़ने का अभ्यास करते हैं। ऐसा करने में उन्हें आनंद की अनुभूति होती है।

(ब) कूदना : दो साल की आयु में बालक अपने एक पैर पर खड़ा होने का अभ्यास करने लगता है। कभी–कभी दोनों पैर आगे बढ़ा देता है और बालक गिर पड़ता है तथा उसको उठने में कठिनाई होती है। चार वर्ष की आयु का बालक बारह इंच की ऊंचाई से कूद सकता है। इसके बाद तेइस इंच से तैतीस इंच की ऊचाई से कूद सकता है। पांच और छः वर्ष की उम्र में अधिकांश बच्चे रस्सी–दौड़ करने लगते हैं।

(स) चढ़ना : बच्चा दो वर्ष की आयु में किसी अन्य की सहायता से सीढ़ियो पर ऊपर–नीचे होने लगता है। वह सीढ़ी की छड़ों को पकड़ कर ऊपर–नीचे

चढ़ता–उतरता है किन्तु अभ्यास के कारण बाद में बिना किसी सहारे के चढ़–उतर जाता है। चार साल की आयु में चढ़ना–उतरना उसे वयस्कों जैसा आ जाता है।

टिप्पणी

(द) तैरना : कुछ बच्चे चार साल की आयु में तैरना सीख जाते हैं। बहुत से बच्चे बाद में सीख पाते हैं। इस प्रकार की कुशलता में अभ्यास महत्वपूर्ण होता है। इसके बाद बच्चे तीन पहिए की साइकिल को चलाना भी सीख जाते हैं। दो वर्ष की आयु में कुछ बच्चे तीन पहिए की साइकिल चलाना पूरी तरह से सीख लेते हैं तथा तेज गति से चला भी लेते हैं। तीन–चार वर्ष की आयु में जिस बच्चे को ऐसा अवसर प्राप्त हो जाता है वह ऐसा कर लेता है। बालक छः वर्ष की आयु में अच्छी तरह से तीन पहिए की साइकिल को चलाना एवं दौड़ाना सीख लेते हैं और इसे स्तरीय प्रतीक के रूप में लेते हैं।

2.2.3 मनो–मनो–क्रियात्मक विकास की विशेषतायें

बच्चे का भावी विकास उसके मनो–क्रियात्मक विकास पर निर्भर करता है। यदि बच्चे का मनो–क्रियात्मक विकास न हो सके तो वह कम से कम मनुष्य कहलाने का अधिकारी भी नहीं होता है। अनेक मनोविज्ञानवादियों ने नर्सरी स्कूली, हास्पिटल आदि में बच्चों के मनो–क्रियात्मक विकास की प्रक्रिया का गम्भीर अध्ययन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि बच्चे का मनो–क्रियात्मक विकास उसकी परिपक्वता पर आधारित होता है। अपरिपक्व बच्चे का मनो–क्रियात्मक विकास सम्भव नहीं है। इसकी कुछ विशेषताओं का वर्णन हम इस प्रकार से कर सकते हैं–

1. **निश्चित क्रम का अनुकरण** : मनो–क्रियात्मक विकास में बालका को निश्चित क्रम का अनुकरण करना होता है : मस्तिष्कोन्मुखी विकास का क्रम तथा निकट दूर का विकास क्रम।

   मस्तिष्कोन्मुखी विकास क्रम का आशय यह है कि शारीरिक क्रियायें सिर की ओर से आरम्भ होकर पैर की तरफ बढ़ती हैं। पहले सिर, मुख तथा गर्दन की क्रियायें विकसित होती हैं तथा फिर धड़ की तथा अन्त में पैर की क्रियायें विकसित होती हैं। बालक को अधोन्मुखी जमीन पर पेट के बल लिटा दिया जाय तो वह पहले सिर तथा गर्दन ऊपर उठायेगा और उसके बाद धड़ उठाना सीखेगा तथा अंत में पैर के बल खड़ा होकर चलना सीख जायेगा।

   'निकट दूर' विकास क्रम के अनुसार बालक के शरीर के केन्द्रिय भाग में मनो–क्रियात्मक विकास पहले शुरू होता है और उसके बाद में दूर के भागों का विकास होता है। उदाहरण के लिए पेट व धड़ में क्रियाशीलता पहले आ जाती है लेकिन हाथ–पैर तथा अंगंलियों में क्रियाशीलता बाद में आती है।

2. **सामान्य से विशिष्ट की ओर** : बालक में पहले सामान्य क्रियायें दिखाई पड़ती हैं और बाद में उसी से संबंधित विशिष्ट क्रियायें दिखलाई पड़ती हैं। उदाहरण के लिए यदि हम बालक के अंग संचालन की क्रिया का अध्ययन करें तो पता चलता है कि बालक शुरू–शुरू में अपनी उत्तेजना या संवेग को प्रकट करने

टिप्पणी

के लिए पूरे शरीर को हिलाता है तथा प्रत्येक अंगों का संचालन करता है। पर ज्यों–ज्यों उसमें परिपक्वता आती जाती है, वह विशिष्टता की ओर बढ़ता है और एक संवेदना को व्यक्त करने के लिए केवल एक ही अंग का संचालन करता है। वह किसी वस्तु को पकड़ने के लिए अब पूरे शरीर को नहीं हिलाता है बल्कि केवल एक हाथ को उठाकर सामान्य से विशिष्ट की ओर बढ़ने का उपक्रम प्रदर्शित करता है।

3. **भविष्यवाणी योग्य अवस्थायें** : अधिकांश मनोवैज्ञानिक इस तथ्य से पूर्ण सहमत हैं कि मनो–क्रियात्मक विकास में कुछ भविष्यवाणी योग्य अवस्थायें होती हैं परन्तु मनोवैज्ञानिकों में इस बात पर सहमति नहीं हो पायी है कि यह भविष्यवाणी योग्य कितनी अवस्थायें होती हैं। शर्ले और मैक्ग्रो के अनुसार बालक के जन्म से खड़े होने तक विकास की 16 अवस्थायें होती हैं।

   हॉलवर्सन के अनुसार वस्तुओं को उठाने संबंधी मनो–क्रियात्मक विकास में दस अवस्थायें होती हैं, जिसमें प्रमुख 4 अग्रलिखित हैं–1. चार माह के बालक के सामने यदि कोई गेंद रखी जाये तो वह उसे देखेगा परन्तु वह उस गेंद को उठा नहीं सकता है। 2. पांच महीने का बालक कोई गेंद पकड़ सकता है लेकिन वह जब गेंद को उठाने का प्रयास करेगा तो वह गेंद उससे छूट जायेगी। 3. आठ माह का बालक अपने दोनों हाथों से उसे उठा सकता है। 4. नौ महीने के बालक में मनो–क्रियात्मक विकास इतना हो जाता है कि वह अनेक गेंदों में से एक गेंद को जो उसे पसन्द हों, उठा सकता है या छांट सकता है।

4. **वैयक्तिक भिन्नतायें** : मनो–क्रियात्मक विकास की गति में वैयक्तिक भिन्नतायें पायी जाती हैं। कुछ बालकों में मनो–क्रियात्मक विकास जल्दी शुरू हो जाता है तथा कुछ बालकों में देरी से शुरू होता है। कुछ बालकों में किन्हीं क्रियाओं का विकास अन्य बालकों की अपेक्षा देर से शुरू होता है; जैसे, कुछ बच्चे दस महीने की अवस्था में चलना सीखते हैं जबकि कुछ बच्चे ग्यारह महीने से लेकर पंद्रह महीने की आयु तक चलना सीखते हैं।

5. **कौशलों में यौन–अन्तर** : लगभग तीन वर्ष की अवस्था तक बालक व बालिकाओं के मनो–क्रियात्मक कौशलों के विकास में कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं होता है। इस उम्र के बाद लड़के–लड़कियों के मनो–क्रियात्मक विकास में अन्तर पाया जाता है। जब बालक–बालिकायें विद्यालय जाने लग जाते हैं तो यह देखा गया है कि बालक, बालिकाओं की अपेक्षा मनो–क्रियात्मक कौशलों में ज्यादा निपुण होते हैं।

6. **बड़े अंगों से छोटे अंगों की ओर** : बालक सीखने के क्रम में बड़े अंगों की ओर जाता है। मांसपेशियों के बड़े समूहों में शक्ति पहले आती है तथा छोटे समूहों में गति बाद में आती है। वह गेंद फेंकना तो पहले सीख जाता है लेकिन लिखना इत्यादि बाद में सीख पाता है। लिखना अंगुलियों की क्रिया है जिसे वह बाद में चलकर सीख जाता है। यह प्रायः पाया जाता है कि शरीर की बड़ी मांसपेशियां छोटी मांसपेशियों की अपेक्षा सीघ्र नियंत्रित हो जाती हैं।

टिप्पणी

अतः मनो–क्रियात्मक विकास बड़े अंगों से छोटे अंगों की तरफ होता है।

7. **परिपक्वता तथा शिक्षण का योगदान** : प्रभावी मनो–क्रियात्मक विकास परिपक्वता की अवस्था में ही सम्भव होता है। यदि बालक परिपक्व नहीं है तो वह किसी ज्ञान को ग्रहण नहीं कर सकता है। बालक के शरीर के विभिन्न अंगों में परिपक्वता विभिन्न अवधियों में आती है। एक ही साथ उसके सभी अंग परिपक्व नहीं हो सकते हैं। अतः परिपक्वता के कारण बालक का मनो–क्रियात्मक विकास भी विभिन्न अवस्था में होता है। जब तक कोई अंग परिपक्व नहीं हो जाता है तब तक उसमें मनो–क्रियात्मक विकास किसी भी तरह सम्भव नहीं है। बालक गेंद खेलने में भाग तब तक नहीं ले सकता है जब तक कि उसके हाथ पैर मजबूत नहीं हो जाते हैं। मनो–क्रियात्मक विकास के लिए परिपक्वता तथा शिक्षण दोनों ही आवश्यक हैं।

2.2.4 मनो–क्रियात्मक विकास का महत्व

बालक का जब जन्म होता है तो वह एक अबोध शिशु होता है जिसकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति उसका परिवार करता है। नवजात शिशु की सारी आवश्यकतायें लगभग नगण्य होती हैं इसिलिये उसे अपने शरीर को ज्यादा हिलाने–डुलाने की आवश्यकता नहीं होती है। जब शिशु बड़ा होने लगता है तो उसकी आवश्यकतायें बढ़ने लगती हैं जिसके लिए उसे अपने शरीर को सचल करना पड़ता है; जिसको मनो–क्रियात्मक प्रक्रिया के अन्तर्गत माना जाता है। बालक की चालनात्मक प्रक्रियाओं को ही मनो–क्रियात्मक विकास कहा जाता है। जब बालक पेट के बल घिसकने की कोशिश करता है तो उसके पेट, हाथ व पैर की मांसपेशियों में ताकत आती है जिसको हम मनो–क्रियात्मक प्रक्रिया के फलस्वरूप शारीरिक विकास की श्रेणी में रखते हैं।

वास्तव में मनो–क्रियात्मक विकास का बालक के जीवन में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से काफी महत्व होता है। बालक के मनो–क्रियात्मक विकास के महत्व को अग्रलिखित बिन्दुओं के माध्यम से समझने का प्रयास किया जा सकता है–

1. **अच्छा स्वास्थ्य** : व्यक्ति के शरीर के विकास हेतु उसके स्वास्थ्य का अच्छा होना बहुत आवश्यक होता है। यदि व्यक्ति का स्वास्थ्य अच्छा होगा तो उसकी मांसपेशियां एवं हड्डियां अच्छे तरीके से विकसित होगीं। बालक में मनो–क्रियात्मक विकास जितना अच्छा होगा उसमें उतनी ही अधिक क्रियाशीलता होगी। अच्छी क्रियाशीलता अच्छे स्वास्थ्य की निशानी होती है। जिन बच्चों का शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा होता है उनका मानसिक विकास भी अच्छे तरीक से होता है तथा उनमें प्रसन्ता दिखाई देती है। जिन बच्चों में मनो–क्रियात्मकता का विकास अच्छे अथवा उचित मात्रा में नहीं होता है तो उसके साथ खेलने वाले साथियों का समूह भी उनको कम पसन्द करते हैं। इसका इसी कम क्रिया विकास वाले बच्चे खेल में उतनी तत्परता से भाग नहीं ले पाते हैं जितनी तत्परता से अन्य बच्चे खेल में रूचि व भाग लेते हैं। इस प्रकार जब बालक को अन्य साथी अपने साथ खेल में तथा साथ में नहीं रखते हैं या खेल नहीं खिलाते हैं तो उसे समूह में कोई विशेष संतुष्टि नहीं प्राप्त होती है तथा वह निराश होने लगता है।

टिप्पणी

अतः बालक का शारीरिक एवं मानसिक विकास बहुत कुछ बालक की मनो–क्रियात्मक योग्यताओं और कौशल के विकास पर निर्भर करता है। हम देखते हैं कि अच्छे स्वास्थ्य से बालक का शारीरिक एवं मानसिक विकास होता है तथा उसमें स्फूर्ति बनी रहती है जिससे वह क्रियाओं को करने में उत्साहित रहता है जिसके कारण उसके साथी उसे अधिक पसंद करते हैं। यदि उसका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता है तो वह मनो–क्रियात्मक गतिविधियों में पिछड़ने लगता है जिसके कारण उसका शारीरिक व मानसिक विकास अवरूद्ध हो सकता है।

2. **अवांछित संवेगों का निष्काशन** : बालक अपने परिवार के साथ होता है जहां पर उसका पालन–पोषण होने के साथ–साथ उसकी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहती है, जिसके कारण बालक में शारीरिक व सांवेगिक शक्तियों का विकास होता है और बालक अधिक क्रियाशील हो जाता है। यहां पर बालक के अंदर अधिक क्रियाशीलता के कारण संचित शक्ति का व्यय हो जाता है, जब वह अपने आयु के बालकों के साथ खेलता–कूदता है। यह क्रिया बालक के लिए आवश्यक होती है। अधिक क्रियाशीलता के कारण बालक में मानसिक अवांछित संवेग व चिंतायें भी आने लगती हैं जिनको बाहर निकालना आवश्यक हो जाता है।

   इसके लिए बालक को अन्य बालकों के साथ खेलना आवश्यक होता है जिसके कारण सभी प्रकार के अवांछित मानसिक संवेग तथा चिंतायें अभिव्यक्त होकर बाहर निकल जाती हैं और बालक का सर्वांगिण विकास सम्भव हो पाता है। इस प्रकार वह कष्टदायक संवेगों और चिंताओं से मुक्त हो जाता है।

3. **समाजीकरण** : बालक का प्राथमिक सामाजीकरण परिवार के द्वारा सम्पन्न होता है। परिवार ही वह प्राथमिक समूह है जहां बालक का समाजीकरण उसके माता–पिता व परिवार के अन्य सदस्यों द्वारा किया जाता है। परिवार में ही बालक को अच्छे संस्कार प्राप्त होते हैं जिनसे बालक एक अच्छा नागरिक बनता है। अच्छा समाजीकरण बालकों के अच्छे मनो–क्रियात्मक विकास पर निर्भर करता है। मनो–सामाजिक कौशलों को सीखने का अवसर प्रायः उन्हीं बालकों को प्राप्त हो पाता है, जिनका मनो–क्रियात्मक विकास अच्छा होता है।

   सामाजीकरण की प्रक्रिया हेतु द्वितीयक समूह भी उत्तरदायी होता है जहां पर बालक अपने हमउम्र बच्चों के साथ समूह बनाता है तथा विभिन्न प्रकार के खेल खेलता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि यदि एक बालक गेंद तेजी से नहीं खेल सकता तो उसके खेल के साथी उसका तिरस्कार करेंगें, उसका उपहास उड़ायेगें, उसे अपने से छोटे बच्चों के साथ खेलना पड़ेगा, लेकिन वहां भी उसका उपहास व तिरस्कार हो सकता है। ऐसी अवस्था में बालक दूसरे अन्य बालकों के साथ घुलमिल नहीं पाता है। इस प्रकार वह मनो–सामाजिक कौशलों को सीखने से वंचित हो जाता है। जो बालक खेलने कूदने में होशियार होते हैं, उनके ही मित्र अधिक होते हैं जिससे उन बालकों का समाजीकरण अच्छा और अधिक होता है।

4. **आत्म–आनंद** : बालक जब अपने हमउम्र बालकों के साथ खेलता–कूदता है तो उसमें मनो–क्रियात्मक विकास सम्भव हो पाता है। बालक में कुछ छिपी हुई प्रतिभायें भी होती हैं जो अन्य साथ वह बांटता है और अपने प्रतिभा को प्रदर्शित करता है। जब बालक में मनो–क्रियात्मक योग्यताओं और कौशलों का विकास अच्छा होता है तब वह अनेक ऐसी क्रियाओं या कौशलों का अभ्यास करता है, जिससे उसे आनंद की प्राप्ति होती है। इसके अलावा वह अपने कौशलों के कारण अपने मित्रों में लोकप्रिय हो सकता है। उसमें अपने कौशलों की अभिव्यक्ति करने से आत्म संतुष्टि और आनन्द की प्राप्ति होती है।
5. **आत्म प्रत्यय** : जब बालक में अच्छी मनो–क्रियात्मक योग्यताओं और कौशलों का विकास होता है तब उसमें उपयुक्त मात्रा में शारीरिक सुरक्षा तथा मनोवैज्ञानिक सुरक्षा की भावना जन्म लेती है। फलस्वरूप बालक में पर्याप्त मात्रा में आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न होती है। इस अवस्था में बालक के धनात्मक आत्मप्रत्यय का निर्माण एवं विकास होता है।
6. **व्यक्तित्व विकास** : बालक की मनो–क्रियात्मक योग्यताओं और कौशलों का विकास बालक के व्यक्तित्व को महत्वपूर्ण तरीके से प्रभावित करता है। अच्छे मनो–क्रियात्मक विकास की अवस्था में बालक का परिवार, खेल के साथियों और विद्यालय आदि सभी क्षेत्रों में समायोजन अच्छा होता है। अच्छे समायोजन की अवस्था में बालक के व्यक्तित्व का विकास भी अच्छा होता है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. बालक अपनी अधिकांश मांसपेशीय गतियों पर नियंत्रण सीख जाता है–
   (क) लगभग 3 वर्ष तक (ख) लगभग 6 वर्ष तक
   (ग) पांच वर्ष तक (घ) 18 वर्ष तक
2. बच्चों के पैरों में होने वाली क्रिया नहीं हैं–
   (क) चलना (ख) नाचना
   (ग) बैठना (घ) चढ़ना

2.3 मनो–सामाजिक विकास

मनो–सामाजिक विकास के अन्तर्गत व्यक्ति के मनो–सामाजिक जीवन तथा नैदानिक मनोविज्ञान के साथ सामाजिक जीवन के पहलुओं को भी समाहित किया जाता है। व्यक्ति जब जन्म लेता है तो उसकी आवश्यकतायें बहुत कम होती है जिनकी पूर्ति परिवार के माध्यम से हो जाती है। व्यक्ति जब बड़ा होता है तब उसकी आवश्यकतायें बढ़ती जाती हैं। व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के साथ ही साथ उसके मनो–सामाजिक व्यक्तित्व का भी विकास होता है। मनो–सामाजिक शब्द के बारे में बात करें तो पाते हैं कि इस शब्द की सही वर्तनी मनो–सामाजिक है, न की मनोवैज्ञानिक–मनो–सामाजिक।

टिप्पणी

मनो–सामाजिक नाम से ही पता चलता है कि व्यक्ति अपने मानस के विकास के लिए समाज के साथ संबंधों पर आधारित होता है। मनो–सामाजिक मनोविज्ञान व्यक्ति के मानस का अध्ययन करने तक ही सीमित रहता है जब वह स्वयं को एक समूह के हिस्से के रूप में प्रस्तुत करता है।

व्यक्ति के मनो–सामाजिक आकलन के लिए मनोविज्ञान की सहायता ली जाती है। मनोविज्ञान की संरचना व्यक्तियों के मनो–सामाजिक विकास को जानने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है। इसके माध्यम से महत्वपूर्ण पदों के लिए व्यक्तियों की परीक्षा ली जाती है जिससे व्यक्तियों के मनो–सामाजिक विकास के बारे में पता लगाया जाता है। आज के परिप्रेक्ष्य में लगभग सभी विशिष्ट मंत्रालयों में कार्यरत कर्मचारियों की जांच एवं परीक्षा का आयोजन मनो–सामाजिक विकास के बारे में जानने के लिए किया जाता है। इससे कर्मचारियों की मनो–सामाजिक स्थिति के बारे में जानकारी प्राप्त हो जाती है।

2.3.1 मनो–सामाजिक विकास की अर्थवत्ता एवं विशिष्टता

मनो–सामाजिक विकास की प्रमुख विशेषताएं उसकी अर्थवत्ता भी स्पष्ट करती हैं। ये निम्नांकित हैं–

1. यह एक सतत् प्रक्रिया है।
2. इसमें कारण और प्रभाव के पहलुओं पर विशेष बल दिया जाता है।
3. इसके मूल्यांकन में चिकित्सक या स्वास्थ्य देखभाल करने वाला व्यक्ति सेवार्थी की समस्या की पहचान करता है।
4. इसमें व्यक्ति एवं उसके व्यक्तित्व से संबंधित सभी प्रकार के बिन्दुओं पर विचार किया जाता है।
5. एकत्रित तथ्यों को प्रासंगिक सिद्धांतों के साथ एकीकृत किया जाता है।
6. एक परिकल्पनात्मक प्रारूप तैयार किया जाता है जो व्यक्ति की समस्या को स्पष्ट करता हो।
7. समस्या की खोज के माध्यम से परिकल्पना की पुष्टि की जाती हैं जिसमें सेवार्थी के जीवन–इतिहास, उसके व्यक्तित्व, उसके पर्यावरण इत्यादि के बारे में अध्ययन किया जाता है।
8. उपचार अवधि मे पहचाने गये तथ्यों और एकीकरण और मनो–सामाजिक हस्तक्षेप के लिए एक मनो–सामाजिक अभिलेख तैयार किया जाता है।

2.3.2 मनो–सामाजिक विकास के विविध स्वरूप

ऐरिक्सन के सिद्धांत के अनुसार विकास के आठों चरण आजीवन क्रमानुसार चलते रहते हैं। प्रत्येक चरण में एक विशष्ट विकासात्मक मानक होता है, जिसे पूरा करने में आने वाली समस्याओं का समाधान करना आवश्यक होता है। इसे निम्नांकित बिंदुओं के तहत विवेचित किया जा सकता है–

1. **विश्वास बनाम अविश्वास** : यह ऐरिक्सन का पहला मनो–सामाजिक चरण है जिसका जीवन के पहले वर्ष में अनुभव किया जाता है। विश्वास के अनुभव

टिप्पणी

के लिए शारीरिक आराम, कम से कम डर, भविष्य के प्रति कम से कम चिन्ता जैसी स्थितियों की आवश्यकता होती है। बचपन में विश्वास के अनुभव से संसार के बारे में अच्छे और सकारात्मक विचार जैसे, संसार में रहने के लिए एक अच्छी जगह है, इत्यादि भाव उम्रभर के लिए विकसित हो जाते हैं।

ऐरिक्सन के सिद्धांत का प्रथम चरण माता–पिता या देखभाल करने वाले द्वारा शिशु की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के आसपास केंद्रित है और यह स्पष्ट करता है कि स्थिति कैसे विश्वास या अविश्वास की ओर ले जाती है। ऐरिक्सन द्वारा परिभाषित ट्रस्ट, ''दूसरों की आवश्यक भरोसेमंदता के साथ–साथ स्वयं की विश्वसनीयता की मौलिक भावना है।'' शिशु भरण–पोषण और आराम के लिए माता–पिता, विशेषकर मां पर निर्भर रहता है। बालक की दुनिया और समाज की सापेक्ष समझ माता–पिता और बालक के साथ उनकी बातचीत से आती है। बालक पहले अपने माता–पिता या देखभाल करने वाले पर भरोसा करना सीखतें हैं। यदि माता–पिता अपने बालक को गर्मजोशी, सुरक्षा और भरोसेमंद प्रेम से अवगत कराते हैं, तो दुनिया के बारे में शिशु का दृष्टिकोण भरोसे का होगा। जैसे–जैसे बालक अपने आस–पास की दुनिया पर भरोसा करना सीखता है, उसे आशा का गुण भी प्राप्त होता है। जब माता–पिता एक सुरक्षित पर्यावरण प्रदान करने और बालक की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने में विफल रहते हैं; अविश्वास की भावना उत्पन्न होती है। अविश्वास का विकास निराशा, संदेह, वापसी और आत्मविश्वास की कमी की भावनाओं को जन्म दे सकता है।

ऐरिक्सन के अनुसार, शैशवावस्था में प्रमुख विकासात्मक कार्य यह स्पष्ट करता है कि अन्य लोग, विशेष रूप से प्राथमिक देखभाल करने वाले, नियमित रूप से बुनियादी जरूरतों को पूरा करते हैं या नहीं। यदि देखभाल करने वाले भोजन, आराम और प्रेम के लगातार स्रोत हैं, तो एक शिशु विश्वास सीखता है–कि अन्य भी अच्छे और भरोसेमंद हैं। यदि वे उपेक्षापूर्ण हैं, या शायद अपमानजनक भी हैं, तो शिशु सीखता है–कि दुनिया एक अविश्वसनीय, अप्रत्याशित और संभवतः एक खरतरनाक जगह है। अविश्वास के साथ कुछ अनुभव होने से शिशु को यह समझने में सहायता मिलती है कि जीवन में बाद में खतरनाक स्थितियों का गठन क्या होता है।

हालांकि, शिशुओं और बच्चों को अविश्वास की लंबी स्थितियों के अंतर्गत नहीं किया जाना चाहिए। इस चरण में, बच्चे की सबसे महत्वपूर्ण जरूरतें सुरक्षित, आरामदेह और अच्छी तरह से देखभाल महसूस करना है। यह वह चरण है जहां एक बच्चा अपने देखभाल करने वाले से लगाव की शैली सीखता है। बच्चा जिस लगाव शैली को विकसित करता है, वह उसके शेष जीवन में उसके संबंधों को प्रभावित कर सकता है। इस अवधारणा का बाल्बी और एन्सवर्थ ने अपने लगाव के सिद्धांत में अध्ययन किया था जो ऐरिक्सन के शोध के अनुरूप है।

2. **स्वायत्तता बनाम शर्म** : ऐरिक्सन के द्वितीय विकासात्मक चरण में यह स्थिति शैशवावस्था के उत्तरार्ध और बाल्यावस्था जिसकी आयु लगभग एक से तीन

टिप्पणी

वर्ष की होती है, के बीच होती है। अपने माता–पिता के प्रति विश्वास होने के बाद बालक यह आविष्कार करता है कि बालक का व्यवहार उसका स्वयं का है। वह अपने आप में स्वतंत्र और स्वायत्त है। उसे अपनी इच्छा का अनुभव होता है। अगर बालक पर अधिक बंधन लगाया जाय या कठोर दंड प्रदान किया जाय तो उनके अंदर शर्म और संदेह की भावना विकसित होने की संभावना बढ़ जाती है।

जैसे ही बच्चा उन्मूलन कार्यों और चालनात्मक क्षमताओं पर नियंत्रण प्राप्त करता है, वह अपने परिवेश का पता लगाना शुरू कर देता है। माता–पिता अभी भी सुरक्षा का एक मजबूत आधार प्रदान करते हैं जिससे बच्चा अपनी इच्छा पर जोर देने के लिए उद्यम कर सकता है। माता–पिता का धैर्य और प्रोत्साहन बच्चे में स्वायत्तता को बढावा देने में मदद करता है। इस आयु में बालक अपने आस–पास की दुनिया को खोजने का प्रयास करना पसंद करते हैं और वे लगातार अपने वातावरण के बारे में सीखने का प्रयास करते हैं। इस आयु में सावधानी बरतनी चाहिए क्योंकि वे ऐसी चीजों का पता लगा सकते हैं जो उनके स्वास्थ्य और सुरक्षा के लिए खतरनाक साबित हो सकती है।

इस आयु में बच्चे अपनी पहली रूची विकसित करते हैं। उदाहरण के लिए, संगीत का आनंद लेने वाला बच्चा रेडियो के साथ खेलना पसंद कर सकता है। जो बच्चे बाहर का आनंद लेते हैं, वे जानवरों और पौधों में रूचि ले सकते हैं। अत्यधिक प्रतिबंधात्मक माता–पिता बच्चे में संदेह की भावना बढ़ाने और नए व चुनौतीपूर्ण अवसरों को आजमाने की उनमें अनिच्छा पैदा करने की अधिक संभावना रखते हैं। जैसे–जैसे बच्चा मांसपेशियों के समन्वय और गतिशीलता में वृद्धि करता है, वह अपनी कुछ जरूरतों को पूरा करने सक्षम हो जाता है। बच्चे खुद खाना खाने लगते हैं, कपड़े धोते हैं और कपड़े पहनते हैं तथा प्रसाधन का उपयोग भी स्वयं करने लगते हैं। यदि देखभाल करने वाले बच्चों में आत्मनिर्भरता के व्यवहार को प्रोत्साहित करने वाले कार्य करते हैं तो बच्चों में स्वायत्तता की भावना तथा कई समस्याओं को अपने दम पर संभालने में सक्षम होने की भावना विकसित होती है। अगर देखभाल करने वाले बहुत जल्द बहुत अधिक की मांग करते हैं, या बच्चों को उन कार्यों को करने से मना करते हैं जिनमें वे अक्षम है, या आत्मनिर्भरता के शुरूआती प्रयासों का उपहास करते हैं, तो बच्चे शर्म और समस्याओं को संभालने की अपनी क्षमता के बारे में संदेह विकसित कर सकते हैं।

3. **पहल बनाम अपराध–बोध** : ऐरिक्सन के विकास का तीसरा चरण पाठशाला जाने के प्रारंभिक वर्ष के बीच होता है। इस समय बालक को प्रारंभिक शैशव अवस्था की तुलना में और अधिक चुनौतियां झेलनी पड़ती हैं। इन चुनौतियों का सामना करने के लिए एक सक्रिय और प्रयोजन पूर्ण व्यवहार की आवश्यकता होती है। इस आयु में बालकों को उनके शरीर, उनके व्यवहार, उनके खिलौने और पालतू जानवरों के बारे में ध्यान देने को कहा जाता है। अगर बालक गैर जिम्मेदार है और उसे बार–बार उकसाया जाय तो उनके अंदर असहज व अपराध–बोध की भावना उत्पन्न हो सकती है। ऐरिक्सन का इस चरण के प्रति

टिप्पणी

एक सकारात्मक दृष्टिकोण है। उनका मानना है कि अधिकांश अपराध–बोध की भावनाओं की समाप्ति तुरंत पूर्ति की उपलब्धि की भावना द्वारा की जा सकती है।

पहल केवल सक्रिय होने और आगे बढ़ने के लिए किसी कार्य की योजना बनाने, करने और उस पर अमल करने की गुणवत्ता बहाल करनी चाहिए ऐसा इसलिए कि इस समय बच्चा अपने आस पास की दुनिया में महारत हासिल करना सीख रहा है, बुनियादी कौशल और भौतिकी के सिद्धांतों को सीख रहा है। चीजें गिरती हैं, ऊपर नहीं जाती हैं, गोल चीजें लुढ़कती हैं। वे आसानी से जिप और टाई का प्रयोग गिनना और बोलना सीखते हैं। इस स्तर पर, बच्चा एक उद्देश्य के लिए अपने स्वयं के कार्यों को शुरू करना और पूरा करना चाहता है। अपराध–बोध एक भ्रमित करने वाली नई भावना है। वे उन चीजों के लिए दोषी महसूस कर सकते हैं जो ताक्रिक रूप से अपराध–बोध की वजह नहीं होनी चाहिए। जब यह पहल वांछित परिणाम नहीं देती है तो वे अपराध–बोध महसूस कर सकते हैं।

साहस और स्वतंत्रता का विकास अन्य उम्र–समूहों के अलावा, तीन से छह वर्ष की आयु के पूर्व प्राथमिक विद्यालय की अवधि निर्धारित करती है। इस श्रेणी के छोटे बच्चे पहल बनाम अपराध–बोध के मनोवैज्ञानिक संकट का सामना करते हैं। इसमें योजना की जटिलताओं का सामना करना और निर्णय की भावना विकसित करना सीखना अंतर्निहित है।

इस चरण के दौरान, बालक पहल करना सीखता है तथा नेतृत्व की भूमिकाओं और लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए तैयारी करता है। इस चरण में एक बच्चे द्वारा मांगी गई गतिविधियों में जोखिम लेने वाले व्यवहार अंतर्निहित हो सकते हैं, जैसे अकेले सड़क पार करना या बिना हेलमेट के बाइक चलाना। इन दोनों उदाहरणों में आत्म–सीमा शामिल हैं। जैसे ही वे पहल करना सीखते हैं, वे नकारात्मक व्यवहार भी विकसित कर सकते हैं। ये नकारात्मक व्यवहार, है– वस्तुओं को फेंकना, मारना या चिल्लाना आदि योजना के अनुसार लक्ष्य प्राप्त करने में सफल न होने के परिणाम बालक में निराशा उत्पन्न करते हैं।

पूर्व प्राथमिक विद्यालय वाले बालकों में बढ़ती हुई स्वतंत्रता के साथ आगे की जाने वाली गतिविधियों के बारे में कई विकल्प सामने आते हैं। कभी–कभी बच्चे ऐसी परियोजनाओं को हाथ में लेते हैं जिन्हें वे आसानी से पूरा कर सकते हैं, लेकिन कभी–कभी वे ऐसी परियोजनायें करते हैं जो उनकी क्षमताओं से परे होती हैं या जो अन्य लोगों की योजनाओं और गतिविधियों में हस्तक्षेप करती हैं। यदि माता–पिता और पूर्व स्कूली शिक्षक बालकों के प्रयासों को प्रोत्साहित करते हैं और उनका समर्थन करते हैं, साथ ही उन्हें यथार्थवादी और उपयुक्त विकल्प बताने में सहायता करते हैं, तो बालक पहल विकसित करते हैं–गतिविधियों की योजना बनाने और उपक्रम करने में स्वतंत्रता महसूस करते हैं। अगर, वयस्क स्वतंत्र गतिविधियों की खोज को हतोत्साहित करते हैं या उन्हें मूखर्तापूर्ण और परेशान करने वाले के रूप में खारिज करते हैं, तो बालक अपनी जरूरतों और इच्छाओं के बारे में अपराध–बोध विकसित करते हैं।

टिप्पणी

4. उद्यम बनाम हीन भावना : यह ऐरिक्सन का चौथा विकासात्मक चरण है जो बाल्यावस्था के मध्य की अवधि से संबंधित है; जिसकी प्रस्थिति प्रारंभिक वर्षों में दिखाई देती है। बालक द्वारा की गई पहल से वह नए अनुभवों के संपर्क में आता है और जैसे–जैसे वह बचपन के मध्य और अंत तक पहुंचता है, तब तक वह अपनी ऊर्जा को बौद्धिक कौशल और ज्ञान से हासिल करने की दिशा में मोड़ देता है। बाल्यावस्था का अंतिम समय कल्पनाशीलता से भरा होता है। यह समय बालक के सीखने के प्रति जिज्ञासा का सबसे अच्छा समय होता है। इस आयु में बालक के अन्दर हीन भावना (अपने आपको अयोग्य और असमर्थ समझने की भावना) विकसित होने की संभावना रहती है।

विश्वास, स्वायत्तता और मेहनती कौशल में महारत हासिल करने में विफलता के कारण बालक को अपने भविष्य पर संदेह हो सकता है, जिससे शर्म, अपराधबोध और हार तथा हीनता का अनुभव हो सकता है। बालक को नए कौशल सीखने में हीनता, विफलता और अक्षमता की भावना जैसी जोखिम में डालने वाली मांगों से निपटना चाहिए।

एलन और मोराट्ज के अनुसार, ''इस आयु में बच्चे व्यक्तिगत रूप से खुद के बारे में अधिक जागरूक हो रहे हैं।'' वे जिम्मेदार होने, अच्छे होने और सही करने के लिए कड़ी मेहनत करते हैं। वे अब साझा करने और सहयोग करने के लिए अधिक उत्सुक हैं। इस उम्र के लिए वे विशिष्ट कुछ अवधारणात्मक, संज्ञानात्मक, विकासात्मक लक्षणों को भी सूचीबद्ध करते हैं। बालक अंतरिक्ष और समय की अवधारणाओं को अधिक तार्किक, व्यावहारिक ढंग से समझने की कोशिश करते हैं। वे कारण और प्रभाव तथा कैलेंडर समय की बेहतर समझ प्राप्त करते हैं। इस स्तर पर, बालक अधिक जटिल कौशल सीखने और महारत हासिल करने के लिए प्रयासरत होते हैं। जैसे, पढ़ना, लिखना तथा समय बताना इत्यादि। वे नैतिक मूल्यों का निर्माण भी करते हैं, सांस्कृतिक और व्यक्तिगत अंतरों को पहचानते हैं और अपनी अधिकांश व्यक्तिगत आवश्यकताओं को पूरा करने और न्यूनतम सहायता के साथ उन्हें तैयार करने में सक्षम होते हैं। इस स्तर पर बच्चे वापस बात करके और अवज्ञाकारी और विद्रोही होकर भी अपनी स्वतंत्रता व्यक्त कर सकते हैं।

ऐरिक्सन ने प्राथमिक विद्यालय के वर्षों को आत्मविश्वास के विकास के लिए महत्वपूर्ण माना है। आदर्श रूप से, प्राथमिक विद्यालय चीजों का निर्माण करके शिक्षकों, माता–पिता और साथियों की मान्यता प्राप्त करने के कई अवसर प्रदान करता है, जैसे, चित्र बनाना, अतिरिक्त समस्याओं को हल करना, वाक्य लिखना इत्यादि। यदि बालकों को वस्तुओं को सृजन के लिए प्रोत्साहित किया जाता है और फिर उनकी उपलब्धियों के लिए प्रशंसा की जाती है, तो वे मेहनती होकर, कार्यों को पूरा होने तक दृढ़ता से, और काम को आनंद स्वरूप रखकर अपनी योग्यता का प्रदर्शन करना शुरू कर देते हैं। यदि बालकों को उनके प्रयासों के लिए उपहास या दंड दिया जाता है तो वे अपने शिक्षकों और माता–पिता की अपेक्षाओं को पूरा करने में असमर्थ होते हैं। अपनी क्षमताओं के बारे में हीनता की भावना विकसित करते हैं।

टिप्पणी

इस आयु में बालक अपनी विशेष प्रतिभा को पहचानना प्रारम्भ कर देते हैं तथा अपनी शिक्षा में सुधार के साथ–साथ रूचियों की खोज करना जारी रखते हैं। वे अपनी विशिष्ट रूचि को आगे बढ़ाने के लिए और गतिविधियों को चुनना प्रारम्भ कर सकते हैं, जैसे किसी खेल में शामिल होना। यदि उन्हें पता है कि उनके पास एथलेटिक क्षमता है या बैण्ड में शामिल होने के लिए वे संगीत में अच्छे हैं तो वे आगे बढ़ते हैं। यदि उन्हें अपने समय में अपनी प्रतिभाओं को खोजने की अनुमति नहीं दी जाती है, तो उनमें प्रेरणा की कमी, कम आत्म–सम्मान और सुस्ती की भावना विकसित होगी।

5. **पहचान बनाम पहचान–भ्रान्ति** : यह ऐरिक्सन का पांचवा विकासात्मक चरण है, जिसका अनुभव किशोरावस्था के वर्षों में होता है। इस समय व्यक्ति को इन प्रश्नों का सामना करना पड़ता है : वो कौन हैं? किससे संबंधित हैं? उनका जीवन कहां जा रहा है?

   किशोरों को बहुत सारी नई भूमिकाओं और वयस्क स्थितियों का सामना करना पड़ता है, जैसे व्यावसायिक और रोमांटिक भूमिकायें। उदाहरण के लिए अभिभावकों को किशोरों की उन विभिन्न भूमिकाओं और एक ही भूमिका के विभिन्न भागों का पता लग सकता है, जिनका वह जीवन में पालन कर सकता है। यदि इसके सकारात्मक रास्ते का पता लगाने का मौका न मिले तब, पहचान भ्रान्ति की स्थिति हो जाती है।

   किशोर इस बात से हमेशा परेशान रहते हैं कि वे दूसरों को कैसे दिखते हैं। पराहम् पहचान एक अर्जित विश्वास है कि भविष्य में तैयार की गई बाहरी समानता और निरंतरता स्वयं के लिए किसी के अर्थ की समानता और निरंतरता से मेल खाती है, जैसा कि वृत्तिक प्रमाणित है। किशोरवास्था के बाद के चरणों में बच्चे मे यौन पहचान की भावना विकसित होती है। जैसे–जैसे वे बचपन से वयस्कता में संक्रमण करते हैं, किशोर वयस्क दुनिया में उनकी भूमिका पर विचार करते हैं। शुरू में वे कुछ भूमिका–भ्रम का अनभव करने के लिए उपयुक्त हैं। तथा विशिष्ट ढ़ंगों के बारे में मिश्रित विचार और भावनायें जिसमें वे समाज में फिट होंगे; विभिन्न प्रकार के व्यवहार और गतिविधियों के साथ प्रयोग कर सकते हैं, उदाहरण के लिए कारों के साथ छेड़छाड़, पड़ोसियों के बच्चों का सहयोग संबद्ध कुछ राजनीतिक या धार्मिक समूहों के साथ जुड़ाव इत्यादि। अंततः ऐरिक्सन ने प्रस्तावित किया कि किशोरों को व्यवसाय, लिंग भूमिकाओं, राजनीति और संस्कृति, धर्म में पहचान हासिल करनी चाहिए।

   ऐरिक्सन को ''पहचान संकट'' शब्द को प्रतिपादित करने का श्रेय दिया जाता है। वह पहचान संकट को विकास के एक महत्वपूर्ण हिस्से के रूप में वर्णित करते हैं जिसमें एक किशोर या युवा स्वयं की भावना विकसित करता है। पहचान संकट में शारीरिक, आत्मिक व्यक्तित्व, संभावित भूमिकाओं और व्यवसायों का एकीकरण शामिल है। यह संस्कृति और ऐतिहासिक प्रवृत्तियों से प्रभावित है। भविष्य के चरणों के सफल विकास के लिए यह चरण आवश्यक है। प्रत्येक चरण जो पहले आया था और उसके बाद का अपना एक 'संकट' है, लेकिन अब और भी अधिक है क्योंकि यह बचपन से वयस्कता में संक्रमण का प्रतीक है। यह मार्ग आवश्यक है, क्योंकि बचपन में, एक व्यक्ति कई पहचान बनाता

टिप्पणी

है, लेकिन युवावस्था में पहचान की आवश्यकता इनसे पूरी नहीं होती है। मानव विकास में यह महत्वपूर्ण मोड़ 'वह व्यक्ति जो बन गया है' और 'जिस व्यक्ति को समाज बनने की उम्मीद करता है' के बीच सामंजस्य स्थापित करता प्रतीत होता है। स्वयं की यह उभरती हुई भावना भविष्य की प्रत्याशाओं के साथ पिछले अनुभवों को 'फोर्जिंग' करके स्थापित की जा सकती है समग्र रूप से आठ जीवन चरणों के संबंध में, पांचवां चरण चौराहे से मेल खाता है। ऐरिक्सन के शब्दों में:–

''पहचान के चरण के बारे में जो अनोखा है, वह यह है कि यह पहले के चरणों का एक विशेष प्रकार का संश्लेषण है और बाद के चरणों की एक विशेष प्रकार की प्रत्याशा है। किसी व्यक्ति के जीवन में यौवन का एक विशिष्ट गुण होता है; यह बचपन और वयस्कता के बीच एक पुल है। यौवन आमूल परिवर्तन का समय है–यौवन के साथ होने वाले शरीर परिवर्तन, अपने स्वयं के इरादों और दूसरों के इरादों को खोजने की मन की क्षमता, समाज द्वारा बाद के जीवन के लिए पेश की जाने वाली भूमिकाओं के बारे में अचानक तेज जागरूकता है।''

किशोरों को, ''अपने लिए सीमाओं को फिर से स्थापित करने और अक्सर संभावित शत्रुतापूर्ण दुनिया के सामने ऐसा करने की आवश्यकता का सामना करना पड़ता है।'' यह अक्सर पुनौतीपूर्ण होता है, क्योंकि विशेष पहचान भूमिकाओं के बनने से पहले उन्हें प्रतिबद्धताओं के लिए कहा जा रहा है। इस बिंदु पर, एक 'पहचान भ्रम' की स्थिति बनती है। ऐरिक्सन के शब्दों में:–

''किशोरावस्था की समस्या भूमिका के भ्रम में से एक है–प्रतिबद्ध करने की अनिच्छा जो एक व्यक्ति को उसके परिपक्व वर्षों में परेशान कर सकती है।" सभी परिस्थितियों को देखते हुए ऐरिक्सन का मानना है कि इनमें अनिवार्य रूप से पर्याप्त स्थान और समय है। एक मनो–सामाजिक स्थगन, जब कोई व्यक्ति स्वतंत्र रूप से प्रयोग और अन्वेषण कर सकता है, तब वो उभर सकता है, वह पहचान की एक दृड़ भावना है, एक भावनात्मक और गहरी जागरूकता है कि वे कौन है?

कोई फर्क नहीं पड़ता कि किसी को कैसे उठाया गया है, उसकी व्यक्तिगत विचारधारायें अपने लिए चुनी जाती हैं। प्रायः यह धार्मिक और राजनीतिक झुकाव का क्षेत्र है, जो वयस्कों के साथ संघर्ष की ओर जाता है। एक अन्य क्षेत्र जहां किशोर अपने लिए निर्णय ले रहे हैं, वह है उनका वृत्तिक या कैरियर विकल्प और अक्सर माता–पिता उस भूमिका में निर्णायक भूमिका निभाना चाहते हैं। यदि समाज बहुत अधिक आग्रहपूर्ण है तो किशोर बाहरी इच्छाओं को स्वीकार कर लेगा, प्रभावी रूप से उसे प्रयोग पर 'फोक्लोज' करने के लिए मजबूर करेगा। इसलिए, सच्ची आत्म–खोज वयस्क को करनी चाहिए। एक बार जब कोई विश्वदृष्टि और व्यवसाय पर स्थिर हो जाता है तो क्या वह आत्म–परिभाषा के इस पहलू को एक विविध समाज में एकीकृत करने में सक्षम होगा? ऐरिक्सन के अनुसार, जब किशोर ''मुझे क्या मिला?'' तथा ''मैं इसके साथ क्या करने जा रहा हूं?'' इन दोनों दृष्टिकोणों को संतुलित कर लेता है, तब वह अपनी

टिप्पणी

पहचान स्थापित कर लेता है। इस स्तर पर निर्भर निष्ठा का अहंकार गुण है–मूल्य प्रणालियों के अपरिहार्य विरोधाभाषों और भ्रमों के बावजूद स्वतंत्र रूप से प्रतिज्ञा की गई वफादारी बनाये रखने की क्षमता।''

बचपन को छोड़कर वयस्कता के अज्ञात का समाना करना किशोरावस्था का एक घटक है। इस चरण की एक अन्य विशेषता अधिस्थगन है जो वयस्कता शुरू होते ही समाप्त हो जाती है। यह देखते हुए कि अगले चरण में अक्सर विवाह की विशेषता होती है, कई लोग बीस वर्ष की उम्र में पांचवें चरण को बंद करने के लिए कहते हैं। हालांकि, ये उम्र सीमायें वास्तव में काफी तरल हैं, विशेष रूप से पहचान की उपलब्धि के लिए, क्योंकि किसी की निष्ठा के उद्देश्य की पहचान करने के लिए, यह महसूस करने के लिए कि ''उम्र आ गयी है'' कई साल लग सकते हैं। यंग मैन लूथर और गांधी भी आत्मकथाओं से ऐरिक्सन ने निर्धारित किया कि उनका संकट क्रमशः 25 वर्ष और 30 वर्ष की आयु में समाप्त हो गया।

6. **आत्मीयता या अंतरंगता बनाम अलगाव** : यह ऐरिक्सन का छठवां चरण है। इसका अनुभव युवावस्था के शुरू के वर्षों में होता है। यह व्यक्ति के पास दूसरों से आत्मीय संबंध स्थापित करने का विकासात्मक मानक है। ऐरिक्सन ने आत्मीयता को परिभाषित करते हुए कहा है कि आत्मीयता का अर्थ है, स्वयं को खोजना, जिसमें स्वयं को किसी और व्यक्ति में खोजना पड़ता है।

   जब व्यक्ति की किसी के साथ स्वस्थ मित्रता विकसित हो जाती है और एक आत्मीय संबंध बन जाता है, तब उसके अंदर आत्मीयता की भावना आ जाती है। यदि ऐसा नहीं होता है तो अलगाव की भावना उत्पन्न हो जाती है।

   आत्मीयता या अंतरंगता बनाम अलगाव–संघर्ष का जन्म तीस वर्ष की उम्र के आस–पास होता है। इस चरण के प्रारम्भ में, पहचान बनाम भूमिका भ्रम समाप्त हो रहा है, हालांकि यह अभी मंच की नींव पर बना हुआ है। युवा वयस्क अभी भी अपनी पहचान को अपने मित्रों के साथ मिलाने के लिए उत्सुस हैं, क्योंकि वे इसमें फिट होना चाहते हैं। ऐरिक्सन का मानना है कि अंतरंगता या आत्मीयता की भावना के कारण लोग कभी–कभी अलग–थलग पड़ जाते हैं। लोग उपेक्षा से डरते हैं, जैसे कि ठुकरा दिया जाना या उनके साथी उनसे संबंध तोड़ लेते हैं। मनुष्य दर्द से परिचित है, तथा कुछ लोगों के लिए अस्वीकृति इतनी असहनीय होती है कि उनका अहंकार इसे सहन नहीं कर सकता है। ऐरिक्सन का यह भी तक्र है कि दूरियां अंतरंगता के साथ ही चल रही होती हैं। दूरदर्शिता उन चीजों को अलग करने या नष्ट करने की इच्छा है जो किसी के अपने आदर्शों या जीवन के लिए खतरनाक हो सकती हैं।

   एक बार जब लोग अपनी पहचान बना लेते हैं तब वे दूसरों के लिए दीर्घकालिक प्रतिबद्धतायें करने के लिए तैयार होते हैं। वे अंतरंग, पारस्परिक संबंध बनाने में सक्षम हो जाते हैं तथा स्वेच्छा से त्याग और समझौता करते हैं जो ऐसे संबंधों की आवश्यकता होती है। अगर लोग इन अंतरंग संबंधों को नहीं बना सकते हैं तो शायद यह उनकी जरूरतों के कारण होता है, अलगाव की भावना का

टिप्पणी

परिणाम हो सकता है या नकारात्मकता और क्रोध की भावनाओं के जगाने के कारण हो सकता है।

7. **उत्पादकता बनाम स्थिरता या रचनात्मकता** : यह ऐरिक्सन का सातवां चरण है जो मध्य वयस्क अवस्था में अनुभव किया जाता है। इस चरण का मुख्य उद्देश्य नई पीढ़ी को विकास में सहायता प्रदान करने से संबंधित होता है। ऐरिक्सन का उत्पादकता से यही अर्थ है कि नई पीढ़ी के लिए कुछ नहीं कर पाने की भावना से स्थिरता की भावना उत्पन्न होती है।

   उदारता अगली पीढ़ी का मार्गदर्शन करने की चिंता का विषय है। मनो–सामाजिक रूप से मूल्यवान कार्य और अनुशासन उदारता की अभिव्यक्ति है। मध्य उम्र के दौरान प्राथमिक विकास कार्य समाज में योगदान देना और भावी पीढ़ियों का मार्गदर्शन करने में मदद करना है। जब कोई व्यक्ति इस काल के दौरान योगदान देता है तो शायद एक परिवार का पालन–पोषण करके या समाज की बेहतरी की दिशा में काम करके, उदारता की भावना तथा उत्पादकता और उपलब्धि की भावना का ही परिणाम होता है। इसके विपरित एक व्यक्ति जो आत्म–केन्द्रित है और समाज को आगे बढ़ने में मदद करने में असमर्थ या अनिच्छुक है तो वह स्थिरता की भावना विकसित करता है जो उत्पादकता की सापेक्ष कमी के साथ असंतोष के कारण होता है।

   मध्य वयस्कता के केन्द्रिय कार्य निम्नलिखित हैं–

   - यौन संपर्कों से अधिक आत्मीयता के माध्यम से प्यार का व्यवहार करना।
   - स्वस्थ जीवन पैटर्न बनाये रखना।
   - साथी के साथ एकता की भावना विकसित करना।
   - बढ़ते बच्चों को जिम्मेदार वयस्क बनने में मदद करना।
   - बड़े हो चुके बच्चों के जीवन में अपनी केन्द्रिय भूमिका को त्यागना।
   - बच्चों के साथियों और मित्रों को स्वीकार करना।
   - एक आरामदायक घर बनाना।
   - स्वयं और साथी या पति या पत्नी की उपलब्धियों पर गर्व करना।
   - वृद्ध माता–पिता के साथ अनुकूल भूमिकायें निभाना।
   - परिपक्व नागरिक और मनो–सामाजिक जिम्मेदारी हासिल करना।
   - मध्यम उम्र के शारीरिक परिवर्तनों को समायोजित करना।
   - खाली समय का रचनात्मक उपयोग करना।

8. **संपूर्णता बनाम निराशा** : यह ऐरिक्सन का आठवां और अंतिम चरण है जो कि वृद्धावस्था में अनुभव होता है। इस चरण में व्यक्ति अपने अतीत को टुकड़ों में याद करता है और एक सकारात्मक निष्कर्ष निकालता है या फिर बीते हुए जीवन के बारे में असंतुष्टि भरी सोच बना लेता है। अमूमन अलग–अलग प्रकार के वृद्ध लागों की अपने बीते हुए जीवन के विभिन्न चरणों के बारे में एक सकारात्मक सोच विकसित होती है। अगर ऐसा होता है तो बीते जीवन

टिप्पणी

का एक अच्छा चित्र बन जाता है और व्यक्ति को भी एक तरह से संतोष का अनुभव होता है। संपूर्णता की भावना का अनुभव होता है। अगर बीते हुए जीवन के बारे में सकारात्मक विचार नहीं बन पाते हैं तो निराशा की भावना घर कर जाती है। इसे ही ऐरिक्सन ने निराशा का नाम दिया है।

जैसे–जैसे लोग बड़े होते हैं और वरिष्ठ नागरिक बनते हैं वे अपनी उत्पादकता को धीमा कर देते हैं और एक सेवानिवृत्त व्यक्ति के रूप में जीवन की खोज करते हैं। वयस्कता के इस चरण के दौरान भी वे अभी भी विकसित हो रहे हैं। यह इस समय के दौरान है कि वे अपनी उपलब्धियों पर विचार करते हैं और उस व्यक्ति का मूल्यांकन करते हैं जो वे बन गये हैं। अगर वे स्वयं को एक सफल जीवन जीन के रूप में देखते हैं तो वे अखंडता विकसित करने में सक्षम होते हैं। जिन्होंने सत्यनिष्ठा विकसित की है, वे समझते हैं कि उनके जीवन का कोई अर्थ है। वे आम तौर पर संतुष्ट महसूस करते हैं और खुद को और दूसरों को स्वीकार करते हैं। जैसे–जैसे वे अपने जीवन के अंत के करीब पहुंचते हैं, उनमें मृत्यु के बारे में विचार कर शांति से रहने की संभावना अधिक होती है। यदि वे अपने जीवन को अनुत्पादक के रूप में देखते हैं या महसूस करते हैं कि उन्होंने अपने जीवन के लक्ष्यों को पूरा नहीं किया है तो वे जीवन से असंतुष्ट हो जाते हैं और निराशा का विकास करते हैं। यह अक्सर अवसाद और निराशा की भावनाओं को जन्म दे सकता है। वे यह भी महसूस कर सकते हैं कि जीवन अनुचित है, व्यर्थ हो चुका है। वे मरने से डरते हैं।

इस दौरान कई चीजों में रूचि का नवीनीकरण हो सकता है। ऐसा इसलिए माना जाता है क्योंकि जीवन के इस समय में व्यक्ति स्वायत्त होने का प्रयास करता है। जैसे–जैसे लोगों का शरीर और दिमाग बिगड़ने लगाता है, वे संतुलन की भावना खोजने का प्रयास करते हैं। वे अपनी स्वायत्तता से चिपके रहते हैं जिससे कि उन्हें प्रत्यके चीज के लिए दूसरों पर निर्भर होने की आवश्यकता न पड़े।ऐरिक्सन के अनुसार इस चरण में वयस्कों के लिए भी यह महत्वपूर्ण है कि वे अखंडता विकसित करने के लिए अलग–अलग आयु के अन्य लोगों के साथ संबंध बनाये रखें।

अंतिम विकास कार्य पूर्वव्यापी है जिसमें लोग अपने जीवन और उपलब्धियों पर पीछे मुड़कर देखते हैं। वे संतोष और अखंडता की भावना विकसित करते हैं। यदि वे मानते हैं कि उन्होंने एक खुशहाल जीवन व्यतीत किया है। तो वे सहजता और संतुष्टि का अनुभव करते हैं। यदि वे निराशा और अप्राप्त लक्ष्यों से भरे जीवन को पीछे मुड़कर देखते हैं तो उनमें हीनता और पीड़ा की भावना विकसित हो सकती है।

9. अन्य (नौवां) चरण : मनो–सामाजिक संकट

पूर्वोक्त आठ चरणों के अतिरिक्त एक और चरण विचार का विषय बनता है। ऐरिक्सन ने 'द लाइफ साइकिल कम्पलीटेडः एक्सटेंडेड वर्जन' में नौवां चरण जोड़ा। इस चरण में उन्होंने लिखा कि, ''किसी के अस्सी और नब्बे दशक में वृद्धावस्था का समय अपने साथ नई मांगें, पुनर्मूल्यांकन और दैनिक कठिनाइयां लाता है।'' इस नई चुनौतियों से निपटने के लिए, नया यानी नौवां चरण नामित

टिप्पणी

करने की आवश्यकता है। जब ऐरिक्सन ने नौवें चरण के बारे में लिखा, तब उनकी नब्बे वर्ष की आयु थीं।

उन्होंने दिखाया कि सभी आठ चरण, नौवें चरण में प्रासंगिक और आवर्ती हैं।नौवें चरण में, आठ चरणों के मनो–सामाजिक संकटों का फिर से सामना करना पड़ता है, लेकिन भागफल क्रम उलट जाता है। उदाहरण के लिए, प्रथम चरण शैशवावस्था में मनो–सामाजिक संकट 'ट्रस्ट बनाम मिस्ट्रस्ट' था जिसमें ट्रस्ट ''सिंटोनिक भागफल'' था और मिस्ट्रस्ट ''डायस्टोनिक'' था। नौवें चरण में यह उल्टा होगा। ऐरिक्सन नौवें चरण में पहले के मनो–सामाजिक संकटों को निम्नानुसार लागू करते हैं–

(अ) बुनियादी अविश्वास बनाम विश्वास : नौवें चरण में, ''बुजुर्गों को अपनी क्षमताओं पर अविश्वास करने के लिए मजबूर किया जाता है'', क्योंकि किसी का भी ''शरीर अनिवार्य रूप से कमजोर'' होता है।

(ब) शर्म और संदेह बनाम स्वायत्तता : नौवें चरण के बुजुर्गों को खोये हुए नियंत्रण हेतु शर्म का सामना करना पड़ता है और उन्हें अपने शरीर पर उनकी स्वायत्तता का संदेह होता है। यह शर्म और संदेह चुनौती पोषित स्वायत्तता है।

(स) हीनता बनाम उद्योग : उद्योग एक प्रेरक शक्ति के रूप में जो एक बार बड़ों के पास था, नौवें चरण में चला गया है। अक्षम होने के कारण और आयु बढ़ने के कारण 'अवसर काल' छोटा होता है और यह बड़ों को बड़ी उम्र के दुःखी छोटे बच्चों की तरह बना देता है।

(द) पहचान–भ्रम बनाम पहचान : नौवें चरण में बुजुर्ग अपनी अस्तित्ववादी पहचान और स्थिति तथा भूमिका के बारे में एक वास्तविक अनिश्चितता संबंधी भ्रम का अनुभव करते हैं।

(य) अलगाव बनाम अंतरंगता : नौवें चरण में अंतरंगता और प्रेम के वर्षों को अक्सर अलगाव और अभाव में बदल दिया जाता है। रिश्ते नई अक्षमताओं और निर्भरता से ढंके हुए हो जाते हैं।

(र) स्थिरता बनाम जनरेटिविटी : काम और पारिवारिक रिश्तों के सातवें चरण में उदारता, अगर यह संतोषजनक रूप से है, तो जीवित रहने का एक अद्‌भुत समय है। अस्सी और नब्बे के दशक में, उदारता या देखभाल करने के लिए ऊर्जा की आवश्यकता होती है। इस प्रकार, ठहराव की भावना अच्छी तरह से हावी हो सकती है।

(ल) निराशा और घृणा बनाम ईमानदारी : सत्यनिष्ठा, बड़ों की इंद्रियों पर एक गंभीर दबाव का अनुभव कराती है। ज्ञान के लिए उन क्षमताओं की आवश्यकता होती है जो नौवें चरण के वृद्धों में आमतौर पर नहीं होती है। आठवें चरण में पूर्वव्यापीकरण शामिल है जो घृणा और निराशा की स्थिति पैदा कर सकता है। नौवें चरण में आत्मनिरीक्षण की जगह किसी की क्षमताओं और विघटन के नुकसान की ओर ध्यान देने की मांग की जाती है। इस चरण में रहते हुए ऐरिक्सन ने विश्वास व्यक्त किया कि नौवें चरण के मनो–सामाजिक संकट को पहले चरण में मूल विश्वास के साथ सुलझा लिया जा सकता है।

टिप्पणी

अनुमानित आयु	गुण	मनो–सामाजिक संकट	महत्वपूर्ण संबंध	अस्तित्व संबंधी प्रश्न	घटनायें
बचपन 2 साल से कम	आशा	विश्वास बनाम अविश्वास	मां	क्या मैं दुनिया पर भरोसा कर सकता हूं?	भोजन, परित्याग
डगमगाते कदम 2–3 तीन साल	मर्जी	स्वायत्तता बनाम शर्म	मता–पिता	क्या मेरा होना ठीक है?	शौचालय प्रशिक्षण, कपड़े स्वयं पहनना
बचपन 3–6 साल	क्षमता	पहल बनाम अपराध	परिवार	क्या मेरे लिए करना, हिलना और अभिनय करना ठीक है?	एक्सप्लोर करना, टूल्स का उपयोग करना, लायक बनना
मध्य बचपन 7–12 साल	क्षमता	उद्योग बनाम हीनता	पड़ोसी, स्कूल	क्या मैं इसे लोगों और चीजों की दुनिया में बना सकता हूं?	स्कूल, खेल
किशोरावस्था 13–19 साल	सत्य के प्रति निष्ठा	पहचान बनाम भूमिका भ्रम	साथियों, रोलमॉडल	मैं कौन हूं? मैं कौन हो सकता हूं?	मनो–सामाजिक रिश्ते
जल्दी वयस्कता 20–39 साल	प्रेम	अंतरंगता बनाम अलगाव	मित्रों, पार्टनर्स	क्या मैं प्यार कर सकता हूं?	रोमांटिक रिश्ते
मध्यवयस्कता	देखभाल	जन क्षमता बनाम ठहराव	घरेलू, काम के साथी	क्या मैं अपने जीवन की गणना कर सकता हूं?	काम, पितृत्व
देर से वयस्कता 65 और ऊपर	बुद्धि मत्ता	अहंकार, वफादारी बनाम निराशा	मानव जाति	मेरी तरह क्या मेरा होना ठीक है?	जीवन पर चिंतन

चित्र– ऐरिक्सन के सिद्धांत का समग्र प्ररूपण

फ्रायडियन उपरांत सिद्धांत का विकास

ऐरिक्सन फ्रायड के छात्र थे। सिगमण्ड फ्रायड की पुत्री ने मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत और मनोवैज्ञानिक चरणों के आठ चरणों की बुनियादी रूपरेखा में योगदान प्रदान किया था। ऐरिक्सन के जीवन के पहले चार चरण क्रमशः फ्रायड के मौखिक, गुदा, फालिकल और विलंबता चरणों के अनुरूप हैं।

इसके अलावा, किशोरावस्था के पांचवें चरण को मनोवैज्ञानिक विकास जननांग चरण के समानांतरण कहा जा सकता है। हालांकि पहले तीन चरण फ्रायडियन सिद्धांत से जुड़े हुए हैं। यह देखा जा सकता है कि उनकी कल्पना बहुत अलग लाइनों के साथ की गई है। यौन विधाओं और उनके परिणामों पर इतना जोर नहीं है जितना कि अहंकार गुणों पर है जो प्रत्येक चरण से निकलते हैं। व्यक्तित्व विकास के क्रम को समाज के व्यापक संदर्भ से जोड़ने का भी प्रयास किया गया है।

ऐरिक्सन ने जीवन भर काम में एक गतिशीलता देखी जो किशोरावस्था में विल्कुल ही नहीं रूकती है। उन्होंने जीवन के चरणों को एक चक्र के रूप में भी देखा जो एक पीढ़ी के अंत और अगली पीढ़ी की शुरूआत के रूप में दृष्यमान हुआ। इसको मनो–सामाजिक संदर्भ में देखा जाय तो जीवन की अवस्थायें एक व्यक्ति के लिये रैखिक लेकिन मनो–सामाजिक विकास के लिए वृत्ताकार थीं।

टिप्पणी

फ्रायड के विचार में किशोरावस्था तक विकास काफी हद तक पूरा हो जाता है। इसके विरीत फ्रायड के छात्रों में से एक ऐरिक्सन का मानना था कि जीवन भर विकास जारी रहता है। ऐरिक्सन ने फ्रायड द्वारा रखी गई नींव को तो लिया, लेकिन इसे वयस्कता और दीर्घता से जीवन में विस्तारित किया।

2.3.3 मनो–सामाजिक विकास का महत्व

प्रत्येक सिद्धांत की अपनी महत्ता तथा कुछ सीमायें होती हैं। कोई भी सिद्धांत अपने आप में पूर्ण नहीं होता है। इसी कारण आगे इन कमियों को दूर करने के लिए नये–नये सिद्धांतों का प्रतिपादन होता जाता है। अतः ऐरिक्सन के मनो–सामाजिक सिद्धांत की भी कुछ कमियां एवं विशेषतायें हैं। इन्हें देखने से पहले ऐरिक्शन के इस सिद्धांत के गुणों के आलोक में इसकी महत्ता पर दृष्टिपात करते हैं।

ऐरिक्सन के सिद्धांत के गुण निम्नलिखित हैं–

1. **समाज एवं व्यक्ति की भूमिका पर बल** : ऐरिक्सन के व्यक्तित्व सिद्धांत की सबसे खूबसूरत बात यह है कि इन्होंने व्यक्तित्व के विकास एवं संगठन को स्वस्थ करने में मनो–सामाजिक कारकों एवं स्वयं व्यक्ति की भूमिका को समान रूप से स्वीकार किया है।
2. **किशोरावस्था को महत्वपूर्ण स्थान** : ऐरिक्सन ने मनो–सामाजिक विकास की जो आठ अवस्थाओं या चरणों के बारे में व्याख्या प्रस्तुत की है उनमें किशोरावस्था को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। ऐरिक्सन के अनुसार किशोरावस्था व्यक्तित्व के विकास की अत्यंत संवेदनशील अवस्था होती है। इस दौरान अनेक महत्वपूर्ण शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक परिवर्तन होते हैं जबकि फ्रायड ने अपने मनाविश्लेषणात्मक सिद्धांत में इस अवस्था को अपेक्षाकृत कम महत्व प्रदान किया है।
3. **आशावादी दृष्टिकोण** : ऐरिक्सन के व्यक्तित्व संबंधी सिद्धांत की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इनके सिद्धांत में आशावादी दृष्टिकोण की झलक मिलती है। उनका मानना है कि प्रत्येक अवस्था में व्यक्ति की कुछ कमियां एवं सामर्थ्य होती है। अतः व्यक्ति यदि एक अवस्था में असफल हो गया तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह दूसरी अवस्था में भी असफल ही होगा। कमियों के साथ–साथ सामर्थ्य भी विद्यमान होती है जो व्यक्ति को हमेशा आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती रहती है।
4. **जन्म से लेकर मृत्यु तक की मनो–सामाजिक घटनाओं को शामिल करना** : ऐरिक्सन अपने सिद्धांत में व्यक्तित्व विकास एवं समन्वय की व्याख्या करने में व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक की मनो–सामाजिक घटनाओं को शामिल किया है, जो इसे अन्य सिद्धांतों से अत्यधिक विशेष बनाता है।

ऐरिक्सन के सिद्धांत की सीमाएं : आलोचकों ने ऐरिक्सन के व्यक्तित्व विकास संबंधी सिद्धांत की कुछ बिन्दुओं के आधार पर आलोचना की है। इन्हें निम्नलिखित प्रकार से समझ सकते हैं–

1. **आवश्यकता से अधिक आशावादी दृष्टिकोण**–आलोचकों का कहना है कि ऐरिक्सन ने अपने सिद्धांत में जरूरत से ज्यादा आशावादी दृष्टिकोण अपनाया है।
2. **फ्रायड के सिद्धांत को मात्र सरल करना** : कुछ आलोचकों का मानना है कि ऐरिक्सन ने कोई नए सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया बल्कि उन्होंने फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धांत को मात्र सरल कर दिया है।
3. **प्रयोगात्मक समर्थन का अभाव** : आलोचकों का यह भी मानना है कि ऐरिक्सन ने अपने व्यक्तित्व सिद्धांत में जिन तथ्यों एवं संप्रत्ययों का प्रतिपादन किया है, उनका आधार प्रयोग नहीं है। अतः उनमें व्यक्तिगत पक्षपात होने की अधिक संभावना है। इन तथ्यों में वैज्ञानिकता एवं वस्तुनिष्ठता का अभाव है।
4. **मनो–सामाजिक परिवेश से प्रभावित हुए बिना व्यक्तित्व विकास संभव** : कतिपय आलोचकों का मत है कि ऐरिक्सन की यह धारणा गलत है कि बदलते हुए मनो–सामाजिक परिवेश के साथ जब व्यक्ति समायोजन करता है, तब ही एक स्वस्थ व्यक्तित्व का विकास संभव है। आलोचकों के अनुसार ऐसे उदाहरण भी उपलब्ध हैं, जब व्यक्ति स्वयं मनो–सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित नहीं हुए और उन्होंने अपने विचारों से समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन प्रदान किया। उन्होंने अपने व्यक्तित्व का उत्तम एव ंअपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ तरीके से विकास किया।
5. **अंतिम मनो–सामाजिक अवस्था की व्याख्या अधूरी एवं असंतोषप्रद** : शुल्ज का मानना है कि ऐरिक्सन के व्यक्तित्व सिद्धांत की अंतिम (आठवीं) अवस्था अधूरी एवं असंतोषप्रद है। इस अवस्था में व्यक्तित्व में उतना संतोषजनक विकास नहीं होता है, जितना ऐरिक्सन ने बताया है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. ऐरिक्सन के सिद्धांतानुसार पूरा जीवन विकास के कितने चरणों से गुजरता है?

   (क) दो (ख) चार

   (ग) छः (घ) आठ

4. ऐरिक्सन का पांचवा विकासात्मक चरण है–

   (क) पहचान बनाम पहचान–भ्रांति (ख) उद्यम बनाम हीन भावना

   (ग) पहल बनाम अपराध–बोध (घ) विश्वास बनाम अविश्वास

2.4 निष्कर्ष

मनो–क्रियात्मक विकास के लिए सामान्यतया निष्कर्ष हेतु स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि जब तक शारीरिक विकास नहीं होता है, परिपक्वता नहीं आती है। जब तक परिपक्वता नहीं आती है तब तक मनो–क्रियात्मक विकास का होना संभव नहीं है। अतः बालक के शैक्षिक विकास एवं मनो–क्रियात्मक विकास में शारीरिक विकास

टिप्पणी

का महत्वपूर्ण स्थान होता है। शारीरिक विकास के फलस्वरूप बालक का व्यवहार प्रभावित होता है।

शारीरिक विकास के प्रमुख चार क्षेत्र हैं जिनसे व्यक्ति का मनो–क्रियात्मक विकास प्रभावित होता है।

1. **स्नायुमण्डल** : स्नायुमण्डल के विकास के साथ बुद्धि का विकास भी होता है, जो बालकों के व्यवहारों में परिवर्तन लाता है। बालक का संवेगात्मक व्यवहार उसकी विभिन्न परिस्थितियों को समझने की योग्यता से घनिष्ट रूप से संबंधित होता है। बालक जिस मनो–सामाजिक अनुमोदन का आनंद प्राप्त करता है उसका संबंध भी दूसरे के विचारों, भावों एवं संवेगों को समझने की योग्यता से रूप से संबंधित होता है।
2. **मांसपेशीय वृद्धि** : मांसपेशियों में वृद्धि के साथ बालक की गामक क्षमता या क्रियाशीलता तथा शक्ति का विकास होता है। जो बालक की क्रियाशीलता उन क्रियाओं में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है, परिवर्तित होती रहती है। विकास की विभिन्न अवस्थाओं में बालक के खेल–कूद और व्यायाम मांसपेशीय विकास पर ही आधारित होते हैं।
3. **अंतःस्रावी ग्रंथियों की भूमिका** : अंतःस्रावी ग्रंथियों के कार्यों में परिवर्तन के परिणामस्वरूप अभिनव परिवर्तित व्यवहारों का प्रकाशन होता है।
4. **समग्र दैहिक ढांचा** : शरीर में होने वाले परिवर्तन अर्थात् उसकी रचना, लम्बाई, वजन, शारीरिक अनुपात और सामान्य शारीरिक रूप आदि बालक के व्यवहार को प्रभावित करते हैं। स्वस्थ व्यक्ति ही स्वस्थ मन के साथ अपना संवेगात्मक विकास करने में समर्थ होता है।

शारीरिक विकास के नियम

1. **मस्तिष्क–उन्मुख विकास** : विकास की दिशा को प्रदर्शित करने वाले इस नियम के अनुसार गर्भ में शिशु का सिर पहले विकसित होता है, उसके बाद धड़ और सबसे बाद में हाथ–पैर। पहले शिशु अपना सिर उठता है तथा उसके बाद धड़ और फिर पैर।
2. **विकास–चक्र** : विकास–चक्र का नियम कहता है कि शिशु के शरीर का विकास समान गति से नहीं होता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार निम्नांकित चार प्रमुख विकास–चक्र होते हैं–

   (अ) प्रथम चक्र दो वर्ष की उम्र तक दिखाई देता है। इसमें शिशु के विकास की गति तीव्र होती है।

   (ब) दूसरा चक्र दो से ग्यारह वर्ष की आयु में प्रारम्भ होता है। इसमें बालक के शारीरिक विकास की गति धीमी होती है।

   (स) तीसरा चक्र ग्यारह से पंद्रह वर्ष की आयु के बीच शुरू होता है, जिसमें शरीर का विकास तीव्र गति से होता है।

   (द) चौथा चक्र पंद्रह से अठ्ठारह वर्ष की उम्र में शुरू होता है। इसमें शारीरिक विकास की गति फिर धीमी पड़ जाती है।

टिप्पणी

अतः विकास की गति समान नहीं रहकर कभी तीव्र तो कभी धीमी हो जाती है।

सभी बालकों में शारीरिक विकास के ये चक्र निश्चित समय पर परिलक्षित नहीं होते हैं। प्रत्येक बालक में वैयक्तिक विभिन्नता के परिणामस्वरूप अन्तर पाया जाता है। प्रत्येक अंग के विकास की गति भी विभिन्न अवस्थाओं में पृथक–पृथक होती है।

मनो–क्रियात्मक विकास के साथ ही मनो–सामाजिक विकास भी होता है। मनो–क्रियात्मक विकास में प्रत्येक अंग को साधना होता है तथा मांसपेशीय सह–गठन के द्वारा अंगों का प्रयोग सम्भव होता है। परिपक्वता के साथ–साथ अंगों की संचालन शक्ति में वृद्धि होती है। मनो–सामाजिक विकास में व्यक्ति, परिवार, समुदाय, समाज आदि के प्रति समझ एवं व्यवहार संबंधी प्रगति होती है।

अपनी प्रगति जांचिए

5. विकास का चतुर्थ चक्र किस उम्र में शुरु होता है?

   (क) 2 (ख) 2–11

   (ग) 15–18 (घ) 11–15

6. "मानव शरीर न तो संपूर्ण रूप में और न एक ही समय में सभी दिशाओं में विकास करता है।" यह किसका कथन है?

   (क) जेम्स ड्रेवर (ख) क्रो एंड क्रो

   (ग) हर–लॉक (घ) थामसन

2.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (ग)
3. (घ)
4. (क)
5. (ग)
6. (घ)

2.6 सारांश

मनो–क्रियात्मक विकास या मनो–क्रियात्मक गतिशीलता का संबंध बालक के शरीर में होने वाले मांसपेशियों, तंत्रिता–तंत्र एवं अन्य शारीरिक अनुक्रियाओं से है जो बालक इनके आधार पर करता है। बालक जब गर्भ में आता है तो उसके शरीर का विकास प्रारम्भ हो जाता है जिसमें उसके शरीर का निर्माण होता है। बालक गर्भ में विभिन्न क्रियायें जैसे, गर्भ में घूमना, मां के गर्भ में पैर मारना इत्यादि करता है; जो मनो–क्रियात्मक विकास के अन्तर्गत सम्मिलित है। जब बालक का जन्म होता है तो उसके शरीर में विभिन्न परिर्वतन होते हैं, जिनके आधार पर वह घिसटता है, चलता है, खेलता है, रोता है तथा अन्य क्रियायें करता है।

टिप्पणी

बालक का जब जन्म होता है तो वह एक अबोध शिशु होता है जिसकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति उसका परिवार करता है। नवजात शिशु की सारी आवश्यकतायें लगभग नगण्य होती हैं इसिलिये उसे अपने शरीर को ज्यादा हिलाने–डुलाने की आवश्यकता नहीं होती है। जब शिशु बड़ा होने लगता है तो उसकी आवश्यकतायें बढ़ने लगती हैं जिसके लिए उसे अपने शरीर को सचल करना पड़ता है, जिसको मनो–क्रियात्मक प्रक्रिया के अन्तर्गत माना जाता है।

मनो–सामाजिक विकास के अन्तर्गत व्यक्ति के मनो–सामाजिक जीवन तथा नैदानिक मनोविज्ञान के साथ सामाजिक जीवन के पहलुओं को भी समाहित किया जाता है। बढ़ती आयु के क्रम में व्यक्ति की आवश्यकतायें बढ़ती जाती हैं। फलतः उनकी अभिपूर्ति में व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के साथ ही साथ उसके मनो–सामाजिक व्यक्तित्व का भी विकास होता है।

2.7 मुख्य शब्दावली

- **मनो–क्रियात्मक योग्यता** : व्यक्ति में नाड़ियों तथा मांसपेशियों की क्रिया–विधियों को नियंत्रित करने वाली योग्यताओं को मनो–क्रियात्मक योग्यता कहते हैं।
- **मनो–क्रियात्मक विकास** : मनो–क्रियात्मक विकास का संबंध उन संरचनाओं एवं कार्यों से है, जो मांसपेशियों की क्रियाओं से संबंधित हैं; अथवा इसका संबंध जीवन की उस अनुक्रिया से होता है, जो वह किसी परिस्थिति–विशेष के प्रति करता है।

2.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. मनो–क्रियात्मक विकास से क्या आशय है?
2. मनो–क्रियात्मक विकास की एक परिभाषा दीजिए।
3. मनो–क्रियात्मक विकास क्यों आवश्यक है?
4. फेटेल अवधि क्या है?
5. मनो–सामाजिक विकास का क्या तात्पर्य है?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. मनो–क्रियात्मक विकास की अर्थवत्ता स्पष्ट करते हुए विविध विद्वानों द्वारा दी गई इसकी परिभाषाओं का उल्लेख कीजिए।
2. मनो–मनो–क्रियात्मक क्रिया की विविध अवस्थाओं पर प्रकाश डालिए।
3. मनो–क्रियात्मक विकास की विशेषताएं बताते हुए इसके महत्व की विवेचना कीजिए।
4. मनो–सामाजिक विकास के विविध स्वरूपों का सभीक्षात्मक उल्लेख कीजिए।
5. मनो–सामाजिक विकास के गुण–दोषों पर विचार कीजिए।

2.9 सहायक पाठ्य सामग्री

टिप्पणी

जायसवाल, डॉ0 सीताराम, ''शिक्षा मनोविज्ञान'', प्रकाशन केन्द्र, लखनऊ, वर्ष–2004.

राय, अमरनाथ एवं अस्थाना, मधु, ''आधुनिक परामर्शन मनोविज्ञान'', मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, वर्ष–2012.

जिंसवर्ट, पी0, ''फण्डामेण्टल्स आफ सोशियोलोजी'', ओरियन्स, लांगमैन्स, बाम्बे, वर्ष, 1959.

यंग, किम्बाल, ''ए हैण्ड बुक ऑफ सोशल साइकोलाजी''.

प्रसाद, डॉ0 आद्य, ''सरल सामान्य मनोविज्ञान'', मनोहर पब्लिकेशन, गोरखपुर, वर्ष, 1984.

मिश्र, डॉ0 पी0 डी0, ''सामाजिक सम्बन्धों के मूल तत्व'' उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, वर्ष, 1986.

इकाई 3 मानव समाजीकरण में आनुवंशिकता एवं पर्यावरण

टिप्पणी

संरचना

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 मानव समाजीकरण
  3.2.1 मानव समाजीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएं
  3.2.2 मानव समाजीकरण की विशिष्टताएं
  3.2.3 मानव समाजीकरण की अवस्थाएं एवं महत्ता
3.3 आनुवंशिकता एवं पर्यावरण
  3.3.1 आनुवंशिकता : अर्थवत्ता एवं व्यक्तित्व–विकास में भूमिका
  3.3.2 पर्यावरण का अर्थ
  3.3.3 व्यक्तित्व विकास में पर्यावरण का प्रभाव
  3.3.4 बालक के लालन–पालन अभ्यास व व्यक्तित्व–विकास में समाजीकरण की भूमिका
3.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.5 सारांश
3.6 मुख्य शब्दावली
3.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.8 सहायक पाठ्य सामग्री

3. परिचय

मानव के व्यक्तित्व एवं उसकी सामाजिक भावना का विकास एक साथ होता है। आयु के बढ़ने पर बालक के अन्दर सामाजिक रुचि का विकास होता है। बालक अपने उम्र के बच्चों के साथ खेलता है तथा क्रिया–कलापों में भाग लेता है। वह दूसरों पर अपना प्रभाव डालना सीखता है तथा आत्म–सम्मान की भावना का विकास करता है। वह सामाजिक तथा सांस्कृतिक वातावरण का जिम्मेदार सदस्य बनता है। जिस तरीके से व्यक्ति समाज के अनुरूप बनता है, उसकी विशेषताओं को ग्रहण करता है तथा सामाजिक जीवन के ढ़ंग अपनाता है, उसे समाजीकरण कहते हैं।

आनुवंशिकता का व्यक्तित्व विकास में काफी महत्व है। इसके बारे में विद्वानों में काफी मतभेद भी है। लेकिन यह निश्चित है कि बिना आनुवंशिकता के बालक में गुणों का विकास नहीं हो सकता है। बुद्धि, स्वभाव, शारीरिक विशेषताएं इत्यादि आनुवंशिकता से प्राप्त होती हैं। फ्रांसिस गाल्टन ने आनुवंशिकता के प्रभाव को अपनी किताब 'हेरिडिटरी जीनियस' में सन् 1869 में दर्शाया है। उनके अनुसार योग्य व्यक्तियों के नाते–रिश्तेदार भी योग्य होते हैं। जब तक योग्य पुरुष योग्य स्त्री से विवाह करता रहेगा तब तक संतान बुद्धिमान पैदा होती रहेगी। उनका यह मत है कि हमारी सम्पूर्ण शारीरिक एवं मानसिक विशेषतायें माता–पिता से प्राप्त होती हैं। गाल्टन ने तीस कलाकारों के विचारों का अध्ययन किया। इस अध्ययन में उन्होंने पाया कि इन परिवारों के चौंसठ प्रतिशत बच्चे कलाकार थे जबकि सामान्य जनसंख्या में केवल एक प्रतिशत ही कलाकार थे।

टिप्पणी

आनुवंशिकता वह समानता है जो पूर्वजों पर आधारित होती है और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक, उत्पादक कोष्ठों की निरन्तरता द्वारा हस्तांतरित होती है। अतः आनुवंशिकता का तात्पर्य ऐसी प्रक्रिया से है जिसमें बच्चे में उसके माता–पिता तथा पूर्वजों के गुण हस्तांतरित होते हैं। व्यक्तित्व विकास में शारीरिक बनावट, स्नायु संस्थान, नलिका विहीन ग्रंथियां और शरीर–रसायन का महत्वपूर्ण स्थान होता है।

हमारे चारों तरफ जो भी कारक, व्यक्ति एवं वस्तुएं आदि हैं, वे सब पर्यावरण में समाहित हैं। अतः हमारा परिवेश हमें प्रभावित करता है और हमसे प्रभावित भी होता है।

इस इकाई में हम मानव समाजीकरण की अर्थवत्ता, विशिष्टता, अवस्था एवं महत्ता का विवेचन करते हुए समाजीकरण में आनुवंशिकता की भूमिका को समझेंगे और पर्यावरण का अर्थ स्पष्ट करते हुए समाजीकरण में इसके प्रभाव का अवलोकन करेंगे।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- मानव समाजीकरण से संबंधित विविध तथ्यों से परिचित हो पाएंगे;
- आनुवंशिकता का अर्थ एवं व्यक्तित्व–विकास में इसकी भूमिका समझ पाएंगे;
- पर्यावरण का अर्थ एवं व्यक्तित्व विकास में इसके प्रभाव को समझ पाएंगे;
- बालक के लालन–पालन अभ्यास में समाजीकरण की भूमिका से अवगत हो पाएंगे।

3.2 मानव समाजीकरण

मानव जब जन्म लेता है तो वह मात्र एक हाड़–मांस का पुतला होता है। उसकी आवश्यकतायें बहुत कम होती हैं, जिसकी पूर्ति माता–पिता कर देते हैं। व्यक्ति ज्यों–ज्यों वह बड़ा होता जाता है त्यों–त्यों उसकी आवश्यकतायें भी बड़ी होती जाती हैं जिनकी पूर्ति वह प्राथमिक एवं द्वितीयक समूहों के द्वारा करता है। वस्तुतः मानव की मूलरूप से दो ही प्रकार की आवश्यकतायें होती हैं: प्रथम जन्मजात एवं द्वितीय अर्जित। मानव की इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति एवं संतुष्टि के लिए उसे अनेक उपाय सीखने व करने होते हैं। मानव जब किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए कोई विशेष उपाय करता है और वह उपाय उसकी आवश्यकता की पूर्ति कर देते हैं तो हमेशा वह उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसी उपाय का सहारा लेता है। इस प्रकार जब वह बार–बार विशेष उपाय का प्रयोग करता है तो यही उपाय उसके व्यवहार का अंग बन जाता है। धीरे–धीरे अनेक तरीके मानव व्यवहार के अंग बन जाते हैं।

उपायों को मानव अन्तःक्रिया के परिणामस्वरूप सीखता है। उसको प्रारम्भ में केवल भोजन की आवश्यकता होती है। इसके लिए वह रोने का प्रत्यक्ष तरीका अपनाता है। आयु बढ़ने के साथ–साथ वह रोना कम कर देता है और निर्धारित सामाजिक तरीके द्वारा आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इसी प्रकार अन्य आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए वह सामाजिक रूप से स्वीकृत तरीकों को सीखता व अपनाता है। इस

टिप्पणी

अधिगम और प्रयोग के पीछे सामाजिक अनुकूलन प्राप्त करना उद्देश्य होता है। जिस प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति समाज के अनुकूल बनता है, उसे ही समाजीकरण कहते हैं।

मानव तथा पशु में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के तरीकों से ही अन्तर किया जा सकता है। पशु हमेशा एक–सा व्यवहार करता है लेकिन मानव के व्यवहार में परिवर्तन आता रहता है। वह मानवीय स्वरूप को धीरे–धीरे प्राप्त करता है। समाज के रीति–रिवाज, प्रथायें, रूढ़ियां, विश्वास आदि ग्रहण करने को व्यक्ति का समाजीकरण कहते हैं। सामान्य रूप से देखा जाय तो मानव अपनी आवश्यकताओं के कारण अकेला नहीं रहना चाहता है।

चूंकि व्यक्ति की आवश्यकतायें केवल उसके द्वारा ही पूरी नहीं हो सकती हैं, इसलिए इनके लिए वह दूसरों पर भी निर्भर रहता है। शुरुआत में मानव का समाजिक प्रतिभागीकरण कम होता है लेकिन धीरे–धीरे इसमें वृद्धि होती जाती है। प्रत्युत्तर में भिन्नता भी देखने को मिलती है। इस प्रत्युत्तरों का कारण व्यक्ति का दूसरों पर निर्भर होना होता है। इन प्रत्युत्तरों का स्वरूप सामाजिक संबंधों की विशिष्टता पर निर्भर होता है। सामाजिक संबंध सामाजिक प्रतिगमन निश्चित करते हैं तथा व्यक्ति इन प्रतिमानों के अनुसार व्यवहार करता है व उनको अपनी आदत का अंग बनाता है। ये आदतें व्यक्तित्व की स्थायी विशेषतायें बन जाती हैं।

3.2.1 मानव समाजीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएं

समाजीकरण की अर्थवत्ता को समझने के लिए हमें कुछ विद्वानों द्वारा प्रदान की गई इसकी परिभाषाओं का अवलोकन करना होगा।

ग्रीन ए. डब्लू के अनुसार, ''समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति का विकास इस भॉति होता है कि हम उसे सामाजिक प्राणी कह सकते हैं।''

इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि समाजीकरण एक प्रक्रिया है जो निरन्तर चलती रहती है। इस प्रक्रिया का कार्य व्यक्तित्व का विकास करना होता है। इस प्रक्रिया के माध्यम से व्यक्ति सामाजिक गुणों को ग्रहण करता है। यह प्रक्रिया प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य होती है।

न्यूमेयर के अनुसार, ''व्यक्ति के सामाजिक प्राणी के रूप में विकसित होने की प्रक्रिया को ही समाजीकरण कहते हैं।''

न्यूमेयर ने भी व्यक्ति को सामाजिक बनाने की प्रक्रिया के रूप में समाजीकरण की व्याख्या की है। उनके अनुसार समाजीकरण की प्रक्रिया ही व्यक्ति को सामाजिक बनाती है।

जानसन, एच. एम. के अनुसार, ''समाजीकरण एक प्रकार का सीखना है जो सीखने वाले को सामाजिक कार्य करने के योग्य बनाता है।''

जानसन ने सीखने की क्रिया को सामाजिक कार्य करने के प्रति उत्तरदायी बताया है। व्यक्ति समाजीकरण की प्रक्रिया में सामाजिक गुण व व्यवहार अर्जित करता है।

गिलिन जे. एल. ऐण्ड गिलिन जे. पी. के अनुसार, ''समाजीकरण से हमारा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह का क्रियात्मक सदस्य बनता है, उसी के स्तर के अनुसार कार्य करता है, लोकाचार, परम्परा तथा सामाजिक परिस्थितियों के साथ अपना संबंध स्थापित करता है।''

टिप्पणी

यहां समाजीकरण को एक प्रक्रिया कहा गया है जो जीवन पर्यन्त चलती रहती है। इसके द्वारा व्यक्ति समाज का क्रियात्मक सदस्य बनता है। समाजीकरण में व्यक्ति सामाजिक गुणों को प्राप्त करता है तथा सामाजिक स्तर के अनुसार कार्य करना सीखता है। व्यक्ति के समाजीकरण में लोकाचार, परम्परा तथा सामाजिक परिस्थितियों से संबंध स्थापित होता है।

समाजीकरण शब्द का विश्लेषण–समाजीकरण शब्द अंग्रेजी भाषा के 'Socialisation' शब्द का हिन्दी रूपांतरण है। इस मूल शब्द की व्याख्या इस प्रकार है–

S-See (Reality) वास्तविकता का ज्ञान

O-Organizational Ability संगठनात्मक शक्ति का विकास

C-Change शारीरिक व व्यावहारिक परिवर्तन

I-Immutation अनुकरण द्वारा गुणों का ग्रहण

A-Adjustment समायोजन कला

L-Learning अधिगम द्वारा सामाजिक गुणों का स्वीकार

I-Interaction अंतःक्रिया में प्रतिभागिता

S-Self-evaluation आत्म मूल्यांकन की क्षमता

A-Accommodation व्यवस्थापन प्रक्रिया की सक्रियता

T-Traditions प्रथाओं का अधिगम

I-Individuality वैयक्तिकता का विकास

O-Objectivity निरक्षता जानने का ज्ञान

N-Normalcy सामान्य व्यक्ति

3.2.2 मानव समाजीकरण की विशिष्टताएं

मानव समाजीकरण की विशिष्टताएं निम्नलिखित बिन्दुओं से स्पष्ट हो सकती हैं–

1. **प्रक्रिया** : समाजीकरण एक प्रक्रिया है जिसका मतलब है कि यह अपना कार्य जन्म लेने के कुछ समय बाद शुरू कर देता है और जीवन पर्यन्त सक्रिय रहता है। पारस्परिक प्रभाव–पूर्णता की विशेषता के कारण समाज के सभी व्यक्ति अन्तःक्रिया में भाग लेते हैं। फलस्वरूप वे एक दूसरे से प्रभावित होते हैं तथा एक–दूसरे को भी प्रभावित करते हैं। यह क्रिया हमेशा चलती रहती है, क्योंकि व्यक्ति कभी शांत होकर नहीं बैठता है।

   विचार, भावनायें, संवेग, अभिवृत्तियां सम्बंध स्थापन द्वारा विकसित होती हैं तथा अभिन्न अंग बनती हैं। इस प्रकार बालक की वंशानुक्रम संबंधी शारीरिक एवं मानसिक विशेषतायें प्रत्यक्ष रूप ग्रहण नहीं कर सकती हैं, जब एक कि अन्य सामाजिक गुणों के साथ विकसित न हों। ग्रीन, न्यूमेयर, फिशर तथा बोगार्डस ने विकास के इस तथ्य पर ध्यान आकर्षित किया है।

2. **सीखना** : व्यक्ति वातावरण से अपना समायोजन सीखने की प्रक्रिया द्वारा करता है। समायोजन करने के लिए अनेक सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा

टिप्पणी

नैतिक विकास करने पड़ते हैं। सीखने की प्रक्रिया द्वारा ही व्यक्ति में व्यावहारिक परिवर्तन आते हैं। लेकिन सभी प्रकार का सीखना समाजीकरण का अंग नहीं होता है बल्कि जो सीखना समायोजन से संबंधी होता है वही समाजीकरण के अन्तर्गत आता है। विशुद्ध ज्ञान समाजीकरण का अंग नहीं है।

3. **परिपक्वता** : प्रौढ़ता एक स्वाभाविक क्रिया है लेकिन उम्र बढ़ने के साथ–साथ सीखने में भी वृद्धि होती है। जन्म के बाद व्यक्ति एक निश्चित उम्र में चलना सीखता है, तत्पश्चात् बोलना शुरू करता है। इसी प्रकार उसके व्यवहार में परिवर्तन आता है। समाजीकरण के अभाव में मात्र परिपक्वता ही व्यक्ति को पूर्ण विकसित प्रौढ़ नहीं बना देती है। समाजीकरण और परिपक्वता जीवन चक्र प्रारम्भ के वर्षों में साथ चलते हैं और व्यक्ति की परिपक्वता के आधार पर ही शिक्षण के भिन्न–भिन्न प्रभाव होते हैं। समय निर्धारण महत्व की बात है। बालक के दिए जाने वाले शौच–कर्म के प्रशिक्षण की सफलता की आशा स्नायु और मांसपेशियों की प्रणाली की पर्याप्त परिपक्वता से पहले नहीं की जा सकती। वे शौचादि क्रियाओं को नियंत्रित कर सके, इससे पहले यह आशा करना कि समयवद्ध और शिशु शांत हो जायेगा, मूर्खता की बात है।

4. **सामाजिक भूमिका** : समाजीकरण का प्रमुख कार्य व्यक्ति को समाजिक भूमिका ग्रहण करने के योग्य बनाना है। भूमिका समाजिक व्यवहार का वह प्रतिमान है जो व्यक्ति को परिस्थिति विशेष में अपने समूह के सदस्यों की मांगों एवं प्रत्याशाओं के अनुरूप प्रतीत होती है। पिता की स्थिति में बच्चों का पालन–पोषण, बच्चों की सुरक्षा, परिवार की देख–रेख आदि भूमिकायें हैं। इसी प्रकार जीवन के सभी स्तरों में भूमिकायें निर्धारित की जाती हैं। शैशव तथा बाल्यावस्था में व्यक्ति शारीरिक विकास करता है। जीवन के सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक पक्ष में उसके संबंधों का विस्तार होता है तथा भूमिकाओं की परिभाषा सुनिश्चित की जाती है। किशोरावस्था एवं प्रारम्भिक युवावस्था में सामाजिक क्रियायें तीव्रतम स्थिति में पहुंच जाती हैं। परिपक्व अवस्था में सामाजिक तथा आर्थिक भूमिकायें पूर्ण सीमा में होती हैं। बालक न केवल परिवार की संस्कृति ग्रहण करता है बल्कि शिक्षा, व्यवसाय तथा अन्य अनेक समूहों की संस्कृति सीखता है।

समाजीकरण के ढंग

समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति के जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। समाजीकरण की प्रक्रिया निश्चित तरीकों के द्वारा कार्य करती है। इसके कार्य करने के ढंगों को निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से समझा जा सकता है–

1. **पालन–पोषण** : पालन–पोषण के तरीके बच्चों के व्यवहार को निर्धारित करते हैं। माता–पिता द्वारा जिस प्रकार बच्चे का पालन–पोषण किया जाता है तथा जैसा सामाजिक वातावरण उसे प्राप्त होता है उसी के अनसार उसमें गुण आते हैं, विचारों एवं भावनाओं का विकास होता है तथा प्रत्यक्षीकरण विकसित होता है।

टिप्पणी

2. **सहानुभूति** : कोई भी बालक जब तक सहानुभूति प्राप्त नहीं करता तब तक सम्बंध स्थापित नहीं करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि बालक सहानुभूति के आधार पर ही संबंध स्थापन का कार्य शुरू करता है। उसमें अपनत्व की भावना विकसित होती है तथा आत्म ज्ञान उत्पन्न होता है। वह इसके फलस्वरूप वाह्य व्यक्ति तथा आत्मीय व्यक्ति में भेद करता है।

3. **आत्मीकरण** : समाजीकरण की प्रक्रिया आत्मीकरण से ही बढ़ती है। बालक माता–पिता से आत्मीकरण करने में न केवल सुरक्षा अनुभव करता है बल्कि उन कार्यों को भी करना सीखता है जिनकी उससे आशा की जाती है। वह जब बड़ा होता है तो समूहों से भी आत्मीकरण करता है। वह किसी क्लब का सदस्य बनता है और तत्पश्चात् उसे अपना कहने लगता है।

4. **अनुकरण** : अनुकरण चेतन स्तर पर होता है जबकि आत्मीकरण अचेतन स्तर पर कार्य करता है। बालक अनुकरण के माध्यम से ही भाषा का विकास करता है और व्यवहार करना सीखता है।

5. **सहकारिता** : यह व्यक्ति की मौलिक आवश्यकता है। समाज एवं व्यक्ति का अस्तित्व सहयोग पर ही आधारित होता है। मान लिजिए कि यदि मां अपने बच्चे को दूध न पिलाये तथा देख–रेख न करे तो उसका जीवित रहना असंभव होगा। इसी प्रकार उसकी अनेक आवश्यकताओं की संतुष्टि सहयोगिक क्रियाओं द्वारा सम्भव होती है।

6. **निर्देशन** : निर्देशों के आधार पर बालक सामाजिक नियमों व परम्पराओं का पालन करना सीखता है। जैसे कि, जब कोई घर में अतिथि आता है तो बालक के अभिवादन करने को कहा जाता है, इससे बालक अभिवादन करना सीख जाता है।

7. **पारस्परिक व्यवहार** : बालक जब बड़ा होता है तब अन्य बालकों के साथ खेल समूह का निर्माण करता है। इससे वह खेल समूह के नियमों, कानूनों को सीखता है। दूसरों को प्रभावित करता है तथा स्वयं प्रभावित होता है। दूसरों के साथ उठना, बैठना, खेलना, इत्यादि कार्य बालक को सामाजिकता की ओर ले जाता है।

8. **सामाजिकता सीखना** : परिवार का प्रमुख कार्य सामाजिक शिक्षा प्रदान करना होता है। यह शिक्षा चार तत्वों पर आधारित होती है–

   (अ) चालकत्व : चालकत्व या अन्तर्नाद वह शक्ति है जो किसी कार्य को करने के लिए प्रेरणा प्रदान करती है। परिवार का प्रमुख कार्य चालक व उत्पन्न करना है जिससे बालक सीखने की क्रिया में भाग ले सके।

   (ब) संकेत : परिवार संकेतों को सिखाता है। बालक संकेतों के आधार पर ही प्रत्युत्तर की ओर बढ़ता है तथा उसी दिशा में कार्य करना शुरू करता है।

   (स) प्रत्युत्तर : परिवार बालक को सिखाता है कि किस समय में कौन–सा प्रत्युत्तर होगा। जब बालक को किसी प्रकार का कार्य करने से परिणाम प्राप्त होता है तो वह संतुष्ट होता है।

टिप्पणी

(द) पुष्टीकरण : बालक बालक की गतिविधियों की पुष्टि जब बड़े करते हैं तो वह प्रोत्साहित होता है। वह जब पुरस्कृत होता है तो उसी प्रकार का व्यवहार बार–बार करता है और उसे अपने जीवन का अंग बना लेता है।

9. **पुरस्कार एवं दण्ड** : बालक उन कार्यों को करना सीखता है जिनको करने से उसकी प्रशंसा की जाती है। इसके विपरीत जिन कार्यों को करने से दण्ड मिलता है या हतोत्साहित किया जाता है तो उन कामों को वह नहीं करता है। इस शस्त्र की सहायता से ही बालक रोजमर्रा की जरूरतों को नियत स्थान व नियत समय पर करना सीखता है। वह खाने के तरीकों तथा आवश्यक संतुष्टि के तरीकों को भी इसी प्रक्रिया के तहत सीखता है।

समाजीकरण की संस्थायें

व्यक्ति के समाजीकरण में विभिन्न संस्थाओं का महत्वपूर्ण योगदान होता है। कुछ संस्थाओं के बारे में जानकारी विभिन्न बिन्दुओं के माध्यम से निम्नवत प्रदान की जा रही है–

(क) परिवार : व्यक्ति के समाजीकरण में परिवार नामक संस्था का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। कहा जाये तो परिवार समाजीकरण की सबसे महत्वपूर्ण और प्राथमिक संस्था है। बालक के शुरूआती जीवन का प्रारम्भ इसी संस्था में होता है, जिससे वह परिवार की संस्कृति का अभिन्न अंग बन जाता है। परिवार से बालक निम्न ज्ञान प्राप्त करता है–

1. आवश्यकताओं की पूर्ति के तरीकों को जानता है।
2. समाज और संस्कृति के आधारभूत तत्व प्राप्त करता है।
3. अनौपचारिक शिक्षा ग्रहण करता है।
4. सामाजिक एवं सांस्कृतिक भिन्नता का ज्ञान प्राप्त करता है।
5. रीति–रिवाजों, परम्पराओं तथा विश्वास का ज्ञान प्राप्त करता है।
6. बैठना, उठना, भोजन करना, कपड़े पहनना इत्यादि सीखता है।
7. प्रेम की भावना का विकास करता है।
8. सहयोग करना सीखता है।
9. स्वार्थ त्याग की भावना का विकास करता है।
1.. सहिष्णुता का ज्ञान तथा उनका अनुपालन करना सीखता है।
11. कर्तव्यों का ज्ञान तथा उनका पालन करना सीखता है।
12. आज्ञा पालन की योग्यता का विकास करता है।
13. परिश्रम करना सीखता है।
14. अनुशासित रहने का गुण सीखता है।
15. सामंजस्य स्थापित करने की योग्यता का विकास करता है।

(ख) विद्यालय : विद्यालय समाजीकरण की एक ऐसी संस्था है जो परिवार के बाद कार्य करती है। विद्यालय में ही बालक को बौद्धिक ज्ञान की प्राप्ति होती है।

टिप्पणी

विद्यालय का वातावरण बालक पर अमिट प्रभाव डालता है। बालक पर विद्यालय का निम्न प्रभाव पड़ता है–

1. बालक की विचारधारा का निर्माण होता है।
2. भावनाओं की दिशा निर्धारित होती है।
3. अनुशासन के तरीकों का विकास होता है।
4. सामूहिक कार्यों को प्रोत्साहन प्राप्त होता है।
5. विचारों का आदान–प्रदान होता है।
6. सहकारिता तथा सहयोग की भावना विकसित होती है।
7. कार्य में रुचि उत्पन्न होती है।
8. परिवार से प्राप्त गुणों में गहनता एवं निखार आता है।

विद्यालय के वातावरण के तीन अंग हैं–

1. शिक्षकों का स्वभाव तथा ढ़ंग। 2. बालकों का स्तर तथा व्यवहार। 3. पठन–पाठन सामग्री।

निरंकुश प्रवृत्ति के अध्यापक बालक में समाज विरोधी तथा हीन भावना उत्पन्न कर सकते हैं। अति सीधे शिक्षकों से बालक अनुशासनहीनता सीखता है। इसी प्रकार सहपाठियों का भी प्रभाव बालक पर पड़ता है।

3. **पड़ोस** : पड़ोस से बालक अनेक सामाजिक गुण सीखता है तथा व्यवहार का अर्थ समझता है। पड़ोस जैसा होता है बालक भी उसी का अंग बनता है और उसकी विशेषताओं को ग्रहण करता है।

4. **खेल समूह** : खेल समूह के द्वारा बालक अन्तःक्रिया में प्रतिभाग करना सीखता है तथा पारस्परिक प्रेम, सहयोग, सहिष्णुता इत्यादि भी। साधारणतः खेल समूह से निम्न लाभ होते हैं–

1. बालक वस्तुओं का आदान–प्रदान करना सीखता है।
2. समाजिक एवं सामूहिक कार्यों में रुचि लेता है।
3. समूहों में भाग लेना सीखता है।
4. समूह एव ंदल बनाना सीखता है।
5. उसमें प्रतियोगिता की भावना विकसित होती है।
6. उत्तरदायित्व ग्रहण करना सीखता है।
7. अपनी भूमिका का महत्व जानता है।
8. नियमों एवं कानूनों का पालन करना सीखता है।

5. **धार्मिक संस्थायें** : धर्म का प्रमुख कार्य उत्तम आचरण का विकास करना है। व्यक्ति धर्म के प्रभाव के कारण ही उचित–अनुचित, अच्छा–बुरा, पुण्य–पाप इत्यादि का अर्थ समझता है तथा धार्मिक बंधनों को पवित्र बंधन मानता है।

टिप्पणी

6. **राजनैतिक संस्थायें** : राजनैतिक चेतनता सामाजिक जीवन का प्रमुख अंग है। व्यक्ति ग्राम पंचायत, जिलाबोर्ड, राज्य के विधान मंडल आदि के द्वारा व्यवहार एवं रहन–सहन के तरीके सीखता है। कानून का ज्ञान होने पर वह व्यवहार का रूप बदल देता है।
7. **आर्थिक संस्थायें** : आर्थिक वातावरण मानव जीवन तथा सामाजिक ढांचे का विकास करता है। जो लोग समुद्र के किनारे पर रहते हैं वे मछली पकड़ने और समुद्री व्यापार करने का कार्य करते हैं। उनमें इस तरह की व्यापारिक योग्यता का समुचित विकास होता है।
8. **विवाह संस्था** : विवाह के बाद पति–पत्नी पारस्परिक रहन–सहन के तरीके सीखते हैं। उनमें समायोजन की क्षमता उत्पन्न होती है। आचार–विचार, रहन–सहन, रूचि–अरूचि इत्यादि का अनुकूलन करना सहज हो पाता है। बच्चे होने पर माता–पिता की भूमिका ग्रहण करनी पड़ती है।

3.2.3 मानव समाजीकरण की अवस्थाएं एवं महत्ता

मानव समाजीकरण के स्वरूपों या विविध पहलूओं को सामाजिक मनोवैज्ञानिकों ने पांच रूपों में विभाजित किया है। विविध अवस्थाओं में भिन्न–भिन्न लक्षण बालक में उत्पन्न होते हैं लेकिन ये अवस्थायें एक दूसरे से अत्यधिक संबंधित हैं और उनको पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता है। मानव समाजीकरण के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए इसकी निम्न अवस्थाओं का अवलोकन आवश्यक है–

1. **मौखिक अवस्था** : समाजीकरण में मौखिक अवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है। बच्चा जब जन्म लेता है तो उसकी अधिकतर संक्रियायें मुख द्वारा ही सम्पादित होती हैं। इस अवस्था में वह मां के स्तनों से अपनी भूख मिटाता है तथा अन्य क्रियाएं करता है। मौखिक अवस्था को निम्नांकित दो स्तरों में विभाजित किया जा सकता है–

   (क) चूषण स्तर : चूषण अवस्था का समय जन्म से लेकर आठ माह की अवस्था तक रहता है। जन्म के समय बालक अत्यंत असहाय होता है उसे आत्म, अहम्, पराहम् तथा वास्तविकता का कुछ भी ज्ञान नहीं होता है। बालक की आवश्यकतायें सीमित होती हैं। वह जब भूखा होता है तो भोजन की आवश्यकता स्पष्ट करने के लिए रोता है। वस्त्रों की आवश्यकता उसे स्वयं नहीं अनुभव होती है। उसकी भूख की संतुष्टि माता के स्तनपान से होती है। माता के स्तनपान से भूख की संतुष्टि होना बालक की महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक एवं शारीरिक क्रिया होती है। इसी कारण मनोवैज्ञानिकों ने इस स्तर को मौखिक चूषण स्तर कहा है। उनके अनुसार स्तनपान से लैंगिक सुख की प्राप्ति होती है।

   बालक को अपनी उग्रात्मक इच्छाओं का चेतन स्तर पर ज्ञान नहीं होता है। वह कामुकावस्था के से सम्प्रेरित होता है जो मुंह में केन्द्रित होती है। मूल प्रवृत्तित्यात्मक जीवन उभयामुखी होता है। उसे अपने तथा अपनी माता के

टिप्पणी

विषय में अलग–अलग ज्ञान नहीं होता है। उसको लैंगिक सन्तोष अपनी त्वचा तथा शारीरिक अंग से प्राप्त होता है लेकिन उसको ज्ञान नहीं होता है कि वह प्रेम कर रहा है। इस लैंगिक सन्तोष को स्वतःपूर्ण कामावस्था कहते हैं। इसमें बालक सम्पूर्ण दृष्टिकोण निष्क्रिय परतंत्रात्मक होता है।

कुछ बालक इस स्तर से अधिक विकास एवं उन्नति नहीं करते हैं। मानसिक मंदित बालक एवं सामान्य बालक स्तनपान के अलगाव से उत्पन्न निराशा के कारण भिन्न व्यक्तित्व–संरचना का विकास करता है।

लगभग आठ महीने की अवस्था में स्तनपान का अलगाव बालक के जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगता है। बालक के लिये यह आघात्मक अनुभव होता है। इस स्थिति में उसे चूषण के अतिरिक्त अन्य आत्म निर्देशित क्रियाओं को अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए करना आवश्यक हो जाता है। इन अवधि में उसमें दांत निकलने शुरू हो जाते हैं जो कि उग्रात्मक व्यवहार के प्रदर्शन के लिए यंत्र का कार्य करते हैं। बालक अपने दांतों द्वारा असंतोष की स्थिति में काटता है। इस संघर्षात्मक स्थिति में आडिपस की शुरूआत होती है। इदम् का प्रमुख एवं पूर्ण प्रभुत्व होता है। मौखिक चूषण काल के अंतिम समय में अहम् का विकास शुरू हो जाता है तथा उसकी वास्तविकता का ज्ञान प्रारम्भ होता है। लेकिन इससे यह अनुमान नहीं लगाना चाहिए कि अहम् तथा वास्तविकता का विकास ठीक जन्म के आठ माह बाद का विषय है। यह एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया होती है।

(ख) मुंह से काटने का स्तर : जब बालक में दांत निकलने शुरू होते हैं तो वह उग्रात्मक व्यवहार का प्रदर्शन करने में समर्थ हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप विकास के नये स्तर में वह प्रवेश करता है। यह अवस्था आठ से अठ्ठारह माह तक रहती है। इस स्तर पर दांतों से काटकर बालक को आनंद की अनुभूति होती है। अतः भोजन तथा भोजन की रुचि मौलिक विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करती है। होठों से चूसकर आनंद प्राप्त करने की संवेदना की शुरूआत यहीं से होती है।

इस स्तर में सुख प्राप्त करने का माध्यम काटना, निगलना तथा चूसना होता है। काटने की क्रिया से एक ओर बालक को सुख प्राप्त होता है वहीं दूसरी तरफ उसकी आक्रामक इच्छा की भी पूर्ति भी होती है। इस प्रकार बालक न केवल स्वतः कामेच्छित आवश्यकताओं से निर्देशित होता है बल्कि तोड़–फोड़ करने की आक्रामक इच्छायें भी बालक को सम्प्रेरित करती हैं। वह अपनी माता के प्रति उभयामुखी हो जाता है, अर्थात् वह प्रेम तथा घृणा दोनों प्रदर्शित करता है। वह घृणा भी करता है, क्योंकि उसकी सभी इच्छाओं की संतुष्टि नहीं होती है। उसमें आत्म प्रेम का विकास भी होता है। वह स्वयं को प्रेम करने लगता है। इस स्तर पर बालक के लिए भोजन प्राप्त करने की प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका निभानी आवश्यक हो जाती है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत सफाई पर भी महत्व एवं ध्यान देना शुरू हो

टिप्पणी

जाता है। इस समय उसमें अहम् का भी प्रादुर्भाव होता है जिसके द्वारा उसे अपने तथा दूसरे के अस्तित्व का ज्ञान होने लगता है।

2. **गुदा अवस्था** : गुदा अवस्था को दो स्तरों में विभाजित किया जा सकता है–

(क) परित्यागात्मक काल : इस काल में बालक मल–मूत्र त्यागने में लैंगिक आनंद प्राप्त करता है। भोजन की प्राप्ति के साथ–साथ उत्पन्न मल के एकत्रीकरण से शरीर में तनाव उत्पन्न होता है। इस तनाव को मल–मूत्र त्यागने से ही बालक दूर करता है जिससे उसे सुख की प्राप्ति होती है। बालक को निर्देश दिया जाता है कि सर्व–प्रथम कोई कार्य करने से पहले मल–मूत्र का परित्याग कर दे। इस व्यवहार से उसे ज्ञात होता है कि मल–मूत्र कोई गंदा पदार्थ है जिससे छुटकारा पाना आवश्यक होता है।

दूसरी तरफ जब बालक के माता–पिता मल–मूत्र निष्काशन के लिए बाध्य करते हैं तो वह समझता है कि इस क्रिया का विशेष महत्व है। इस अवस्था में अहम् तथा वास्तविकता का काफी आभास हो जाता है। अतः बालक इस संबंध में स्वयं को शक्तिशाली अनुभव करता है। प्रातः काल मल–मूत्र त्याग करने पर पुरस्कृत करने की प्रक्रिया के कारण सही आदत का विकास होता है। जब बालक की प्रतिकूल स्थिति होती है तो वह आक्रामक प्रवृत्ति के कारण अधिक मल–मूत्र करने लगता है। बालक में सुखद सिद्धांत का महत्व कम होने लगता है। वास्तविकता के सिद्धांत का विकास होने पर स्थितियों का निर्धारण हो जाता है जिससे सुखद अनुभव की अनुभूति होती है।

पराहम् का भी विकास इस अवस्था में शुरू हो जाता है। उसे लैंगिक भिन्नता का भी आभास होता है; परन्तु आडिपस स्थिति संघर्ष की मुख्य स्थिति रहती है। बालक माता–पिता की सफाई संबंधी शिक्षा का उचित पालन नहीं कर पाता है जिसके कारण निराशा की भावना उत्पन्न होती है। यह बालक के लिए मनोवैज्ञानिक आघात होता है।

(ख) धारणात्मक काल : गुदा परित्यागन काल में बालक मल–मूत्र का परित्याग अपने तनाव को कम करने के लिए करता है। गुदा धारणात्मक काल में मल–मूत्र रोकने, उस पर नियंत्रण रखने तथा धारण करने में सामाजिक मूल्य महत्वपूर्ण होते हैं। यह काल बारहवें माह से लेकर चार वर्ष की अवस्था तक रहता है। बच्चा वैयक्तिक सफाई का अर्थ समझने लगता है। गुदा व्यवहार की अंतिम अवस्था चौथे वर्ष घटित होती है। इस अवस्था में ही दूसरी प्रकार की मनोलैंगिकता सक्रिय होने लगती है जिसको की जननीयता कहते हैं। उसको वास्तविकता परीक्षण का अवसर मिलता है जिसके कारण बालक समझता है कि उसकी अपनी वैयक्तिकता है तथा उसे अपने आप खड़ा होना है।

वह यह समझता है कि ध्यान का केन्द्र बिन्दु वह अब नहीं है बल्कि माता–पिता आपस में ही अधिक रुचि रखते हैं तो यह बालक के लिए अत्यंत कष्टकर मनोवैज्ञानिक आघात होता है।

टिप्पणी

3. **यौनांग ज्ञानावस्था :** इस अवस्था का प्रभाव तीन से चार वर्ष की अवस्था में होता है। इस काल में बालक की रुचि जननेन्द्रियों के संबंध में उत्पन्न होती है। वह सुख की प्राप्ति जननेन्द्रियों द्वारा करता है। वह जननेन्द्रियों को छूने में सुख का अनुभव करता है। उसमें कुछ जननेन्द्रियों की प्रक्रियायें जैसे, दृड़ीकरण आदि उत्पन होती हैं। इस अवस्था में बालक में प्रदर्शन प्रवृत्ति होती है जिसके कारण बालक नंगा रहना पसंद करता है। वह दूसरों को भी नंगा देखना पसंद करता है। इससे उसे सुख प्राप्त होता है।

इस अवस्था में बालक यौन क्रिया को समझने लगता है। बालिकायें, बालक को देखकर ईर्ष्या करने लगती हैं कि वे बालक के जैसी क्यों नहीं हैं। उनमें इसी कारण शिश्न ईर्ष्या से हीन भावना उत्पन्न हो जाती है। इस अवस्था में दो बातें मुख्य रूप से जिज्ञासा का केन्द्र होती हैं :

1. लड़कियां, लड़कों से भिन्न क्यों हैं? 2. शिश्न का उपयोग एवं महत्व क्या है?

यदि उसे बार–बार जननेन्द्रियों से खेलने के लिए मना किया जाता है तो उसमें अपराध भावना दमित होकर कभी–कभी भविष्य के जीवन में विकृतियों का रूप ग्रहण कर लेती हैं। मातृ–मनोग्रंथि का विकास होने से इस अवस्था का बालक अपने ही जननेन्द्रियों में रुचि रखता है। बालक को अपने तथा अन्य बालकों के लिंगों में भी भेद ज्ञात होता है।

बालक अपने लैंगिक प्रेम का विषय माता को बनाता है। वह सोचता है कि जिससे उसे प्रेम है वह पिता के अधिकार में हैं। वह पिता के गुणों का अन्तर्क्षेपण माता पर अधिकार करने उद्देश्य से करता है। अतः उसमें पराहम् का विकास होता है। बालिकाओं में भी विपरीत लैंगिक ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है। वे माता को अपना दुश्मन समझती हैं, जिसके कारण पिता से प्रेम नहीं कर पा रही हैं, हैं। इस प्रकार लड़कियों में पितृ मनोग्रंथि का विकास होता है।

मातृ–मनोग्रंथि या आडिपस काम्पलेक्स की धारणा का विकास फ्रायड ने किया था। यह शब्द युनानी भाषा का है जिसकी व्याख्या से ज्ञात होता है कि आडिपस नामक युवक ने अपने पिता की हत्या करके माता से विवाह कर लिया था। अतः मातृ–मनोग्रन्थि का तात्पर्य पुत्र की माता से कामेच्छा तथा पिता के प्रति घृणा की भावना से होता है। पितृ–मनोग्रंथि का तात्पर्य पुत्री का पिता के से प्रेम तथा माता के प्रति घृणा की भावना से है। फ्रायड का मत है कि लड़की पहले अपनी मां को अधिक पसंद करती है लेकिन सम लिंग होने से यह रुचि कम हो जाती है और विषमलिंगी जो कि पिता होता है, की ओर यह आकर्षित हो जाती है।

मातृ–मनोग्रंथि के संबंध में अन्य मनोवैज्ञानिकों ने अलग–अलग विचार प्रस्तुत किये हैं। एडलर का मत है कि बालक का माता द्वारा अत्यधिक लाड़–प्यार एवं पालन–पोषण के कारण ही मातृ–मनोग्रंथि का विकास होता है। जुंग के विचार से अधिकार की प्रवृत्ति के कारण इस ग्रन्थि का विकास होता है। माता बालक की अधिक चिंता करती है तथा सहायक भूमिका निभाती है। अतः वह

टिप्पणी

उससे मुक्त नहीं होना चाहता है। पिता नियंत्रण का कार्य करता है और बालक नियंत्रण नहीं चाहता है, जिसके कारण वह पिता से घृणा करने लगता है। फेनिल के मतानुसार, मातृ–मनोग्रंथि पर पारिवारिक, सामाजिक व सांस्कृतिक पर्यावरण का प्रभाव पड़ता है।

4. **अव्यक्त अवस्था** : बालक पांचवे से सातवें वर्ष की अवस्था में शैशव कामुकता का सामाजिक परिणाम समझने लगता है, जिसके कारण वह कामुकता की इच्छा को दमित करना शुरू कर देता है। धीरे–धीरे वह चेतन स्तर पर लैंगिक मामलों के संबंध में रुचि समाप्त करता जाता है। वह कार्य धीरे–धीरे होता है। यह अव्यक्त अवस्था में ही पूर्ण नहीं हो जाता है। इसके अतिरिक्त पूर्व दमन की स्थिति कभी भी नहीं आती है। तेरह से चौदह वर्ष की अवस्था में लैंगिकता सुप्तावस्था में चली जाती है। बालक की रुचि वाह्य पर्यावरण के प्रति अधिक हो जाती है। वह वाह्य वस्तुओं के विषय में अधिक से अधिक ज्ञान करना चाहता है। इस प्रवृत्ति एवं इच्छा के कारण समूह का सदस्य बनता है तथा खेलकूद, भागने, दौड़ने आदि की क्रियायें करता है। उसमें पराहम् का विकास होता है। वह उन्हीं कार्यों को करता है जिनसे लोग उसकी प्रशंसा करते हैं। अतः सामाजिकता का विकास शुरू हो जाता है।

   इस अवस्था में लैंगिक इच्छा का उदात्तीकरण होता है। बालक पढ़ने एवं शिक्षा के कार्यों में अधिक रुचि दिखाता है तथा समान विद्यार्थियों के साथ सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास करता है। वह भिन्न–भिन्न व्यवहारों का अर्थ एवं महत्व यहां सीखता है।

5. **जननेन्द्रिय अवस्था** : तरुण अवस्था की शुरुआत से ही शैशव कामुकता का पुनः विकास होने लगता है। बालक–बालिकाओं में लैंगिक भावना एवं इच्छा पुनः जाग्रत होकर चेतन अवस्था में आ जाती है। वे लिंग को जनन के रूप में देखने लगते हैं तथा एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं तथा साथ ही साथ एक दूसरे को आकर्षित करने का प्रयास भी करते हैं। मुख कामुकता तथा गुदा कामुकता का विकास होता है। इस दौरान हस्तमैथुन का कार्य विशेष रूप से अस्तित्व में आता है।

   लड़के व लड़कियों में सामाजिक दूरी होने के कारण सामाजिक विचार उत्पन्न होते हैं। किशोरों में लिंग–प्रधान वार्ता की बाहुल्यता होती है। वे लैंगिक कहानियां अधिक पसंद करते हैं। इस अवस्था में शारीरिक व मानसिक तनाव अधिक होता है। लड़कियों में शारीरिक परिवर्तन तीव्र गति से होता है तथा उनकी लैंगिकता उत्तेजित होती है। यह उत्तेजना कभी–कभी असह्य हो जाती है और एवं लैंगिक सम्बंध स्थापित हो जाते हैं।

   किशोरावस्था में बालक व बालिकाएं अपने लैंगिक अंगों के कार्यों व बनावट में अधिक रुचि लेते हैं। इन अंगों से वे व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए बेचैन रहते हैं। इस बेचैनी को वे प्रेम कल्पनाओं तथा लैंगिक कहानियों एवं बातों से दूर करते हैं। लड़कियों में जब मासिक धर्म शुरू होता है तब वे अधिक चिंतित एवं परेशान होती हैं। उनको अपने स्त्रीत्व का ज्ञान होता है।

टिप्पणी

इस अवस्था की प्रमुख विशेषता यह है कि दोनों लिंग के व्यक्ति एक दूसरे से संगम करना चाहते हैं। यह भावना अत्यंत प्रबल हो जाती है। सामाजिक नियमों को यद्यपि ध्यान में रखा जाता है लेकिन कभी–कभी असामान्य व्यवहार का प्रदर्शन भी होता है।

मानव समाजीकरण का महत्व

समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति को उन तरीकों से सुसज्जित करती है जो सामाजिक व्यवहार के अंग माने जाते हैं। व्यक्ति व्यवहार के तरीकों, नियमों, परम्पराओं, रूढ़ियों, रीति–रिवाजों, कानूनों आदि का पालन करना समाजीकरण के द्वारा सीखता है। संक्षेप में समाजीकरण के निम्नलिखित महत्व हैं–

- समाजीकरण व्यवहार उत्पन्न करता है।
- समाजीकरण रीति–रिवाजों, विधियों तथा परम्पराओं, धर्म, संस्कृति आदि का अध्ययन कराता है।
- व्यक्ति समाजीकरण से संस्कृति का अभिन्न अंग बनता है।
- समाजीकरण के द्वारा अंतःक्रिया का विकास होता है।
- समाजीकरण पर प्रत्यक्षीकरण का विकास आधारित होता है।
- समाजीकरण शारीरिक व मनोसांवेगिक आवश्यकताओं की संतुष्टि के ढंग बताता है।
- समाजीकरण से सांवेगिकता का विकास होता है।
- समाजीकरण से उचित अनुचित का ज्ञान होता है।
- समाजीकरण से उचित अनुचित का विकास होता है।
- समाजीकरण से निर्णय करने की क्षमता उत्पन्न होती है।
- समाजीकरण से वास्तविक जीवन–लक्ष्य का निर्धारण होता है।
- समाजीकरण से आत्म–मूल्यांकन की क्षमता का विकास होता है।
- समाजीकरण में अनुभव से सीखने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है।
- समाजीकरण से समायोजन की क्षमता का विकास होता है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. समाजीकरण की प्रक्रिया इनमें से क्या नहीं है?

   (क) सहानुभूति (ख) आत्मीकरण

   (ग) अनुकरण (घ) स्थिरता

2. दांत निकालने के दौरान मनोसामाजिक विकास उग्रात्मक होता है। इस कलावाधि में बालक की सुखदायी प्रतीत होने वाली क्रिया है–

   (क) काटना (ख) चूसना

   (ग) निगलना (घ) उक्त सभी।

टिप्पणी

3.3 आनुवंशिकता एवं पर्यावरण

आनुवंशिकता रक्त और गुणों की वह समानता है जो पूर्वजों पर आधारित होती है और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक, उत्पादक कोष्ठों की निरन्तरता द्वारा हस्तांतरित होती है। इसकी प्रक्रिया में होने वाली संतान अपने माता–पिता तथा पूर्वजों के अधिकांश गुणों को अपने–आप, उनकी धरोहर के रूप में ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार आनुवंशिकता का आशय उन गुणों से है जिन्हें बच्चा अपने माता–पिता से जन्म से ही प्राप्त कर लेता है। प्रत्येक जीव की उत्पत्ति कोशिका से ही शुरू होती है।

प्रत्येक कोशिका में 48 क्रोमोसोम्स होते हैं जिनमें अनेक जीन्स होते हैं। क्रोमोसोम्स गुण द्वारा ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में पैतृक गुण हस्तांतरित होते रहते हैं। यह हस्तांतरण लैंगिक समागम द्वारा संम्भव होता है। जब माता–पिता के मध्य लैंगिक समागम होता है तो पिता के शुक्र कोष्ठ माता के अण्ड कोष्ठ में प्रवेश करते हैं। उसी समय गर्भाधान संभव होता है जिसे भ्रूण कहते हैं। इसमें शुक्राणु व अंडाणु के वे सभी गुण आ जाते हैं जो माता–पिता में विद्यमान होते हैं। इन्हीं गुणों को आनुवंशिकता कहा जाता है।

3.3.1 आनुवंशिकता : अर्थवत्ता एवं व्यक्तित्व–विकास में भूमिका

आनुवंशिकता के विशिष्ट अर्थ को समझने के लिए यहां पर कुछ प्रमुख विद्वानों की परिभाषाओं का उल्लेख किया जा रहा है।

रूथ बेनिडिक्ट ने आनुवंशिकता को समझाते हुए लिखा है कि, ''आनुवंशिकता माता–पिता से संतान को प्राप्त होने वाले शीलगुणों विशेषकों का नाम है।''

शीलगुण या विशेषक व्यवहार का एक विशेष गुण है जिससे किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व की पहचान होती है। यह व्यक्तियों के व्यवहार की एक शैली है। उदाहरण के लिए व्यक्ति की दृढ़ता, संकोच, सच्चाई या ईमानदारी इत्यादि।

एच० ए० पेटरसन ने आनुवंशिकता को परिभाषित करते हुए लिखा है कि, ''आनुवंशिकता में पूर्वजों की वे विशेषतायें सम्मिलित होती हैं, जो व्यक्ति अपने माता–पिता के द्वारा प्राप्त करता है। चाहे वह रूप, रंग संबंधी हों या व्यक्तित्व विशेषक हों या कोई रोग संबंधी हों।"

आनुवंशिकता, प्रधानतः शरीर की बनावट, स्नायुतंत्र, गिल्टियों, शरीर–रसायन इत्यादि को प्रभावित करती है।

फेयरचाइल्ड ने आनुवंशिकता को परिभाषित करते हुए कहा हैः, ''आनुवंशिकता का अर्थ माता–पिता से उनकी संतानों में शारीरिक (जन्मजात–मनोवैज्ञानिक सहित) गुणों का संचरण होता है।''

यूनेस्को संस्था ने आनुवंशिकता को परिभाषित करते हुए लिखा हैः कि, ''माता–पिता और उसके पूर्वजों के जो लक्षण या गुण हमें शारीरिक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त होते हैं उन्हें जैविक विरासम या आनुवंशिकता कहते हैं।''

कानक्लिन के अनुसार, ''एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में जीवाणु संगठन के कुछ निश्चित तत्वों की निरन्तरता को आनुवंशिकता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।''

जिंसवर्ट के अनुसार, ''आनुवंशिकता में प्रत्येक पीढ़ी का कार्य कुछ जैविकीय या मनोवैज्ञानिक विशेषताओं को माता–पिता द्वारा इनकी संतानों को हस्तांतरित करना शामिल है।''

टिप्पणी

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आनुवंशिकता व्यक्तित्व का ऐसा गुण है जो व्यक्ति को उसके पूर्वजों एवं माता–पिता से प्राप्त होता है। अर्थात कुछ गुण व्यक्ति को आनुवंशिकता के आधार पर प्राप्त होते हैं तथा कुछ गुण व्यक्ति स्वयं अर्जित करता है। अर्जित किये जाने वाले गुण उसके अपने प्रयत्न एवं अनुभव के आधार पर उसे प्राप्त होते हैं।

व्यक्तित्व विकास में आनुवंशिकता की भूमिका

आनुवांशिकता के प्रभाव का एक अध्ययन सन् 1912 में गोडार्ड ने कालिकाक परिवार को केन्द्र बनाकर किया था जिसको उन्होंने प्रकाशित भी किया। उन्होंने बताया कि कालिकाक नामक व्यक्ति अमेरिका का रहने वाला था जिसने दो शादियां की थी। एक शादी क्रांति युद्ध में तथा दूसरी शादी बाद में किया था। उन दोनों पत्नियों में एक पत्नी मंद बुद्धि थी तथा दूसरी बुद्धिमान एवं पादरी की लड़की थी। इन दोनों से जो संतानों की उत्पत्ति हुई उनमें काफी भिन्नता देखने को मिली। मंद बुद्धि पत्नी से उत्पन्न संतानों की पीढ़ियों में 143 मंद बुद्धि के थे जबकि 46 सामान्य पाये गये। उनमें 24 शराबी, 3 अपराधी, 3 मिर्गी के रोगी तथा 35 अनैतिक कार्य करने वाले थे। पादरी की लड़की से उत्पन्न संतानों व पीढ़ियों में अधिकांश वकील, जज तथा व्यापारी थे। अतः स्पष्ट है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास एवं उसकी मानसिक–शारीरिक विशेषताओं के निर्धारण में आनुवंशिकता का पर्याप्त हाथ रहता है।

व्यक्तित्व के विकास में आनुवंशिकता की भूमिका को हम निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से समझने का प्रयास करेगें–

1. **शारीरिक बनावट** : व्यक्ति की शारीरिक बनावट में स्वास्थ्य, वजन, अंगों का पारस्परिक अनुपात, शारीरिक रंग, सुन्दरता, लम्बाई, मोटापन इत्यादि आते हैं। इनका स्वरूप काफी हद तक आनुवंशिक होता है। इनका व्यक्तित्व पर अधिक प्रभाव पड़ता है। लेकिन इन तत्वों का स्वयं व्यक्तित्व विकास में उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना इस पर की गई सामाजिक प्रतिक्रिया का पड़ता है। उदाहरण के लिए, एक आंख होने से व्यक्ति दुबला–पतला या कमजोर नहीं हो जाता है। लेकिन जब अन्य लोग उसे 'काना' कहते हैं तो उसे बुरा लगता है, उसमें हीनता की भावना आ जाती है तनाव में वह अस्वस्थ हो सकता हैं; जिससे उसके व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं हो पाता। सामान्यतः विकलांग व्यक्ति, अविकलांग व्यक्ति की अपेक्षा कम विकास कर पाता है या कभी–कभी एकांगी विकास कर लेता है। शेफर का कहना है कि, ''बहुत थोड़े विकलांग बच्चे शरीर से हृष्ट–पुष्ट बच्चों की अपेक्षा सुसंगठित व्यक्तित्व विकसित कर पाते हैं।''

   कभी–कभी शरीर की विकलांगता की क्षतिपूर्ति अन्य क्रियाओं में उन्नति से की जाती है। विकलांग व्यक्ति अपनी इस हीनता को पूर्ति कवि, लेखक या चोर–डाकू इत्यादि बनकर करते हैं।

टिप्पणी

2. **स्नायु संस्थान** : स्नायु संस्थान संबंधी कुछ विकार आनुवंशिक होते हैं। व्यक्तित्व का विकास बहुत कुछ स्नायु संस्थान या स्नायु तंत्र के संतुलित कार्य पर निर्भर करता है। किसी प्रकार का शिक्षण–क्रियात्मक या सैद्धांतिक स्नायु संस्थान की शक्ति के अनुसार ही सम्भव है। स्नायु संस्थान के विकृत होने पर, किसी मात्रा या प्रकार की शिक्षा व्यर्थ हो जाती है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि स्वस्थ स्नायु संस्थान वाले व्यक्ति अवश्य ही विकसित हो जाते होंगें। व्यक्तित्व विकास पर अन्य तत्वों का प्रभाव भी पड़ता है।

3. **नलिका–विहीन ग्रंथियां और शरीर** : नलिका–विहीन ग्रंथियों से एक प्रकार का हार्मोन निकलता रहता है, जिसे वे रक्त प्रवाह में छोड़ती रहती हैं। वह हार्मोन रक्त प्रवाह के साथ शरीर में फैलता रहता है। ये हार्मोन स्नायुवों और मांसपेशियों को क्रियाशील या निष्क्रिय बनाते रहते हैं। जिसके कारण हमारा व्यवहार प्रभावित होता है। हर्मोन आनुवंशिकता से प्रभावित होते हैं।

   यदि किसी व्यक्ति में पिट्यूटरी ग्रंथि निष्क्रिय हो गयी तो वह व्यक्ति डरपोक हो जायेगा जबकि पिट्यूटरी ग्रंथि के निष्क्रिय होने के पहले वह साहसी रहा होगा। अतः शरीर में जो भी हार्मोन्स का श्रावण होता है उनका प्रभाव व्यक्ति के शरीर पर पड़ता है। जैसे यदि व्यक्ति के शरीर में आक्सीजन का स्तर कम हो जाता है तो व्यक्ति के अन्दर थकान होने लगती है और यहां तक कि यदि ज्यादा आक्सीजन की मात्रा कम हो जाती है तो व्यक्ति की मृत्यु तक हो जाती है।

   इसी प्रकार व्यक्ति के रक्त में उपस्थित शर्करा की मात्रा भी व्यक्ति को प्रभावित करती है। जब कभी रक्त में शर्करा की मात्रा का उचित पाचन नहीं हो पाता तो पेशाब के साथ शर्रा आने लगती है और व्यक्ति के शरीर में शर्करा की मात्रा कम होने लगती है। जिसके परिणाम स्वरूप व्यक्ति की चेतना, वाणी, स्मृति, संवेगात्मक स्थिरता इत्यादि प्रभावित होने लगती है। यादास्त या स्मृति का क्षय होने लगता है। कभी–कभी वाणी में तुतलाहट आ जाती है और प्रायः सभी प्राणप्रद शक्तियों का क्षय हो जाता है।

मनोविज्ञानियों ने शरीर रसायन के आधार पर व्यक्तित्व के प्रकारों को बताने प्रयत्न किया है। प्रमुख प्रकार अग्रलिखित हैं–

1. रक्त प्रधान– इस प्रकार के व्यक्ति हमेशा प्रसन्न तथा आशावादी होते हैं।
2. पित्त प्रधान– इस प्रकार के व्यक्ति शीघ्रता करने वाले, सजग व बलवान होते हैं।
3. कृष्णपित्त प्रधान– इस प्रकार के व्यक्ति मंद, शोकाकुल और चरित्रबल सम्पन्न होते हैं।
4. कफ प्रधान– इस प्रकार के व्यक्ति सुस्त, मन्द, धैर्यवान तथा प्रायः किसी कार्य में संलग्न रहते हैं।
5. घबराहट प्रधान– इस प्रकार के व्यक्ति शीघ्र घबरा जाते हैं, मामूली परेशानी भी सहन नहीं कर पाते हैं।

टिप्पणी

3.3.2 पर्यावरण का अर्थ

पर्यावरण व्यक्तित्व के विकास में बहुत ही सहायक होता है। डार्विन ने अपने उद्विकास के सिद्धांत में उल्लेख किया है कि वातावरण के अनुकूल प्राणी अपने आप को व्यवस्थित करने का प्रयास करता है। उसके अन्दर कुछ स्वाभाविक–शारीरिक परिवर्तन आ जाते हैं। यही परिवर्तन एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होकर दृड़ हो जाते हैं। समय के उपरांत जीव का स्वरूप अपने मौलिक रूप से एकदम भिन्न हो जाता है। यह परिवर्तन पर्यावरण के फलस्वरूप होता है। जैसे किसी पौधे को उगने के लिए कुछ वस्तुओं की आवश्यकता होती है वह हैं, पानी, मिट्टी, उर्वरक, धूप, हवा आदि। जो भी वस्तुएं उसकी वृद्धि में सहयोगी होती हैं, उसे ही हम पर्यावरण कहते हैं।

पर्यावरण शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है, परि + आवरण। इसमें 'परि' शब्द का अर्थ है, चारों ओर और 'आवरण' शब्द का अर्थ है घेरा इस प्रकार पर्यावरण शब्द का शाब्दिक अर्थ 'चारों ओर से घिरे' हुए होता है। दूसरे शब्दों में पर्यावरण शब्द का अर्थ हुआ चारों ओर घिरा हुआ या ढंका। अर्थात् प्रकार व्यक्ति को छोड़कर जो कुछ उसके चारों ओर है वह उसके पर्यावरण में शामिल है। रास के शब्दों में, ''कोई भी वाह्य शक्ति, जो हमें प्रभावित करती है पर्यावरण होती है।'' यदि कोई व्यक्ति किसी विद्यालय का छात्र है तो वह जिस कक्षा में बैठता है उस कक्षा के अन्य लोग एवं वस्तुएं उसके लिए उसका पर्यावरण होंगी। इसका आशय यह है कि परिवेशगत सभी वाह्य शक्तियां जो प्रभावित करती हैं पर्यावरण के अन्तर्गत आती हैं।

व्यक्तियों में सीखने की क्षमता जन्म से ही होती है। व्यक्ति के अन्दर व्यवहारों को सिखने की क्षमता प्रकृति प्रदत्त होती है। लेकिन व्यक्ति व्यवहारों को ठीक से तभी सीख सकता है जब उसे उचित पर्यावरण मिले। व्यक्ति जब जन्म लेता है तो वह उस समय केवल एक प्राणी होता है। वह मनुष्य का रूप उस समय ग्रहण करता है जब उसमें मानवोचित गुणों का विकास होता है। ये गुण व्यक्ति में परिवार से आता है। वह भूख, प्यास और संरक्षण की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति नियमानुसार करता है, लेकिन उसकी महत्वपूर्ण आवश्यकतायें वे होती हैं जो समूह के सदस्य होने पर उसे अनुभूत होती हैं। व्यक्ति को उसके बचपन से ही ऐसी शिक्षा प्रदान की जाती है कि वह अपनी उच्च आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपने अन्दर क्षमता विकसित कर ले। व्यक्ति में मानव प्रकृति का विकास समूह के उचित वातावरण में ही रहकर हो सकता है। समूह से पृथक होकर उसके विकास की कल्पना करना बेमानी है। जब मानव शिशु को उचित सामूहिक संरक्षण और सहायता नहीं प्राप्त होती है तो उसका विकास अपूर्ण रहता है। जब व्यक्ति को मानव का वातावरण नहीं मिलता है तो उसका विकास मानव के अनुसार न होकर पर्यावरण के अनुसार ही होता है। यह अनेक प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया जा चुका है।

पर्यावरण को विविध विद्वानों ने इस प्रकार परिभाषित किया है–

पी० जिंसवर्ट के अनुसार, ''पर्यावरण उस परिवेश को कहते हैं जो किसी एक वस्तु को चारों ओर से घेरे हो तथा प्रत्यक्ष प्रभाव डालता हो।''

टी० डी० इलियट के अनुसार, ''चेतन पदार्थ की किसी इकाई के प्रभावकारी उद्दीपन और अन्तःक्रिया के क्षेत्र को पर्यावरण कहते हैं।''

फेयर चाइल्ड के अनुसार, ''किसी भी जीवित प्राणी के लिये पर्यावरण प्रभावकारी, उत्तेजक तथा अन्तःक्रिया का क्षेत्र है।''

3.3.3 व्यक्तित्व विकास में पर्यावरण का प्रभाव

टिप्पणी

पर्यावरण व्यक्ति के व्यक्तित्व को बहुत हद तक प्रभावित करता है। पर्यावरण के सभी तत्व व्यक्ति के विकास पर अपना विशेष एवं न मिटने वाला प्रभाव डालते हैं। इसमें व्यक्ति के वे अनुभव जो वह दूसरे व्यक्तियों के सम्पर्क में आने से प्राप्त करता है उसके प्रभाव भी उस पर स्पष्ट पड़तें हैं। पर्यावरण के तत्व का प्रभाव व्यक्ति के जीवन पर हमेशा ही होता है। इस प्रकार के परिवर्तनों का पता दूसरे व्यक्तियों के अध्ययन से होता है।

व्यावहारिक प्रतिक्रिया संबंधी तथ्यों जैसे, चिल्लाना, ईर्ष्या, चिड़चिड़ापन, शान्त प्रकृति इत्यादि का अध्ययन किया गया तो यह संकेत मिला कि जैविक स्थिति तथा पर्यावरण बालक के विकास के लिए उत्तरदायी होते हैं। व्यक्ति जब किसी पर्यावरण में होता है तो वह उसी प्रकार के पर्यावरण के अनुरूप अपना व्यक्तित्व बना लेता है। वह अपने अनुभवों की एक अवस्था को प्राप्त करता है। सामाजिक पर्यावरण और तात्कालिक अनुभव व्यक्ति के विकास को काफी हद तक प्रभावित करते हैं। परिवार में व्यक्ति बड़ा होता है तथा विद्यालय के अनुभव उसके विकास पर अमिट छापा छोड़ते हैं।

व्यक्तित्व के विकास में पारिवारिक मूल्य का अपना ही प्रभाव होता है। बालक के माता–पिता एवं दूसरों का उसके प्रति व्यवहार उसके विकास में अपना योगदान देते हैं। परिवार के साथ–साथ विद्यालय का प्रभाव भी बालक के विकासोन्मुख व्यक्तित्व पर पड़ता है। यदि विद्यालय में अच्छे अध्यापक, खेल के मैदान इत्यादि होते हैं तो इसका प्रभाव बालक पर अच्छा पड़ता है। इसके विपरीत यदि परिस्थितियां होती हैं तो उसका विपरीत प्रभाव होता है। व्यक्ति जन्म के समय एक अबोध बालक होता है। धीरे–धीरे जिस प्रकार से सामाजिक पर्यावरण में रहने लगता है तो उसी के अनुसार उसके व्यक्तित्व का विकास उसमें हो जाता है।

व्यक्ति के पर्यावरण में समाज और संस्कृति तथा भौगोलिक परिस्थितियां सभी कुछ समाहित हैं। व्यक्तित्व पर पर्यावरण के प्रभाव का अध्ययन करने के लिए हमें व्यक्ति घर, पड़ोस, विद्यालय तथा समूह के प्रभावों का अध्ययन करना पड़ता है। व्यक्तित्व विकास में पर्यावरणीय प्रभाव को निम्नांकित बिंदुओं के तहत सरलता से समझा जा सकता है।

1. **प्रारम्भिक परिस्थितियों का प्रभाव** : जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में, बालक के विकास पर घर का प्रभाव बहुत ही गहरा और अमिट होता है। इस समय बालक को जिस प्रकार की शिक्षा दी जाती है तथा उसके साथ जैसा व्यवहार किया जाता है, उसका व्यक्तित्व वैसा ही बन जाता है। जिस बालक की इच्छायें बचपन में पूरी नहीं हो पाती हैं तो उसके अन्दर हीनता की भावना उत्पन्न हो जाती है। भोजन इत्यादि के अभाव के कारण बच्चों में संचय करने की आदत बहुत अधिक उत्पन्न हो सकती है, जिसके कारण वह स्वार्थी बन सकता है।
2. **बच्चों के प्रति माता–पिता का दृष्टिकोण** : बालक अपने माता–पिता और अन्य लोगों से अच्छे व्यवहार एवं प्यार पाने की इच्छा करता है, लेकिन अधिक

टिप्पणी

प्यार दुलार उस बच्चे के अन्दर पराश्रितता की भावना को उत्पन्न कर सकता है। ऐसे बालक बड़े होकर भी दूसरों पर निर्भर रहते हैं। इसी प्रकार, अधिक डांट फटकार का भी अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता है। ऐसी दशा में वह स्नेह की प्यास बुझाने के लिए दिवास्वप्न के लोक में विचरण करने का आदि हो सकता है। जिन घरों में बालिकाओं का पैदा होना अच्छा नहीं माना जाता उन घरों की बालिकाओं का विकास नहीं हो पाता है। वे हमेशा अपने को पुरूषों से हीन समझती हैं। जिसका प्रभाव लड़कों पर भी पड़ने की आशंका हो जाती है। लड़के अपने आप को लड़कियों से श्रेष्ठ समझने लगते हैं।

3. **माता–पिता के पारिवारिक संबंधों का प्रभाव** : माता–पिता के आपसी संबंधों का सीधा असर बच्चों के व्यक्तित्व पर पड़ता है। जिन बच्चों के माता–पिता आपस में लड़ते रहते हैं तो वे बच्चे भी झगड़ालू प्रवृत्ति के हो जाते हैं। यदि माता–पिता में एक दूसरे को गाली देने की प्रवृत्ति होती है तो बच्चे भी गाली देना शुरू कर देते हैं। माता–पिता की पारस्परिक अनुशासनहीनता बच्चों में भी अनुशासनहीनता का बीजारोपड़ कर देती है। ऐसे पर्यावरण में पलने वाले बच्चे उदण्ड़ एवं अपराधी हो जाते हैं।

4. **बच्चों में पारस्परिक संबंधों का प्रभाव** : परिवार में बच्चों के जन्म क्रम का भी प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर पड़ता है। प्रायः परिवार में सबसे बड़े बच्चे का अपने माता–पिता के प्यार पर एकाधिकार होता है, परन्तु जब परिवार में दूसरे बच्चे का आगमन होता है तो माता–पिता उस नये बच्चे को भी प्यार करने लगते हैं जिसके फलस्वरूप बड़ा बच्चा छोटे बच्चे से ईष्या करने लगता है तथा छोटा बच्चा बड़े बच्चे से विद्रोह करने लगता है। सबसे छोटा बच्चा अपने माता–पिता का लाड़ला होने के कारण पराश्रित ही बना रहता है। इस प्रकार परिवार के अन्य लोग जैसे चाचा, दादा आदि के` पारस्परिक संबंधों का भी बच्चों के व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है।

   एकलौते बच्चे अक्सर अत्यधिक लाड़–प्यार के कारण पराश्रित, कठोर एवं स्वार्थी हो जाते हैं। यदि माता–पिता उचित व्यवहार से उनको सुधार लेते हैं तो उनके व्यक्तित्व का विकास ठीक से हो जाता है।

5. **पितृहीन बच्चे** : जिन बच्चों के पिता उनके बचपन में ही मर जाते हैं या अलग रहने लगते हैं और जो केवल माता की ही देख–रेख में पलते हैं वे व्यक्तित्व का सहज विकास नहीं कर पाते। जिनके पिता होते हैं लेकिन माता का देहावसान हो जाता है वे बच्चे कठोर हो जाते हैं। यदि बच्चे के पिता बच्चे की माता के मरने के बाद दूसरी शादी कर लेते हैं और सौतेली मां बच्चे से अच्छा व्यवहार नहीं करती है तो ऐसे बच्चों में बहुत से दुगफ्रण आ जाते हैं। जिन बच्चों के माता–पिता बचपन में ही मर जाते हैं वे बच्चे शुरू से ही आत्म निर्भर और प्रौढ़ प्रवृत्तियों वाले हो जाते हैं। अवांछित बच्चे समाज में अपराधी, कुसमायोजित और समाज द्रोही हो जाते हैं।

6. **पड़ोस** : व्यक्ति के व्यक्तित्व पर उसके पड़ोस के पर्यावरण का भी प्रभाव पड़ता है। पड़ोस दो प्रकार का होता है। पहला स्थायी पड़ोस एवं दूसरा

अस्थायी पड़ोस। ये दोनों ही प्रकार के पड़ोस बच्चे के व्यक्तित्व विकास के लिए महत्वपूर्ण होते हैं। स्थायी पड़ोस का प्रभाव तभी से पड़ने लगता है जब बच्चा चलने फिरने लगता है। पड़ोस के प्रभाव के कारण बच्चों में एक दूसरे के साथ मिल–जुलकर रहने की भावना जागृत होती है। इसके साथ ही पड़ोस के साथ परिवार के संबंध का भी बच्चों पर प्रभाव पड़ता है। पड़ोस के व्यवहार, आचार एवं संस्कृति के प्रभाव से बच्चे अछूते नहीं रह सकते हैं। अस्थायी पड़ोस वाली जातियों में समायोजन का गुण पाया जाता है, जैसे घुमन्तु जाति के बच्चे। उनमें अनेक सभ्यताओं, संस्कृतियों एवं धर्मों के प्रभाव का सम्मिश्रण होता है। वे अनेक भाषाओं को थोड़ा बहुत समझने लगते हैं।

7. **विद्यालय** : विद्यालयी परिवेश प्रभाव बच्चों में अधिक पड़ता है क्योंकि विद्यालय में शिक्षकों के साथ–साथ अन्य बच्चों के व्यवहारों का प्रभाव उन पर पड़ता है। बच्चे जो भी विद्यालय में देखते हैं तथा सिखते हैं उनको अपने जीवन में अपनाने का प्रयास करते हैं। विद्यालय का प्रभाव बच्चों पर कई प्रकार से पड़ता है। इसे हम निम्न बिन्दुओं के माध्यम से समझने का प्रयास करेगें–

   - शिक्षक के व्यक्तित्व का प्रभाव बच्चों पर पड़ता है। बच्चे शिक्षकों के व्यवहार का अनुसरण करते हैं तथा उन्हीं के जैसा बनने का प्रयास करते हैं। यदि शिक्षक सभी बच्चों से प्रेमपूर्वक व्यवहार करता है तो बच्चे संतुष्ट रहते हैं। यदि शिक्षक कुछ बच्चों अधिक प्रेम व कुछ बच्चों से कम प्रेम करते हैं तो इससे कुछ बच्चों में हीनता की भावना तथा कुछ बच्चों में श्रेष्ठता की भावना उत्पन्न हो जाती है। जिन बच्चों की तरफ शिक्षक ज्यादा ध्यान देता है उन बच्चों से दूसरे बच्चे ईर्ष्या करने लगते हैं। शिक्षक, बालक तथा पालक (माता–पिता) इन तीनों में उचित संबंध न हुआ तो बच्चे का व्यक्तित्व असंतुलित हो जाता है। यदि बच्चे के माता–पिता आस्तिक हों और शिक्षक नास्तिक हों तो बच्चे के विचारों में खींचतान पैदा हो जाती है।
   - प्रधानाचार्य एवं विद्यालय के प्रबंधक का भी बालकों के व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। प्रधानाचार्य के अनुशासन, ईमानदारी, युक्त व्यक्तित्व आदि का शिक्षक एवं विद्यार्थी अनुकरण करते हैं।
   - बड़े वर्ग के लड़के अपने से छोटे लड़कों से जैसा व्यवहार करते हैं वैसे ही छोटे लड़के अपने से छोटे लड़कों से व्यवहार करते हैं।
   - अपने वर्ग के लड़कों के संबंध का प्रभाव भी बच्चों पर पड़ता है। साथ–साथ पढ़ने एवं खेलने से उनमें सामाजिक भावना, सहनशीलता, सहयोग, दल की भावना, खेल की भावना इत्यादि का विकास होता है।

8. **समूह** : प्राथमिक एवं द्वितीयक समूहों का प्रभाव बच्चे के व्यक्तित्व पर पड़ता है। प्राथमिक समूह में परिवार के अनुरूप बच्चे के व्यक्तित्व का विकास होता है एवं द्वितीयक समूह में समूह के सदस्यों के अनुरूप बच्चे के व्यक्तित्व का विकास होता है।

टिप्पणी

9. **संस्कृति** : संस्कार के रूप में व्यक्ति अपने पूर्वजों एवं समाज से जो वृत्तियां प्राप्त करता है, उसे संस्कृति कहते हैं। किम्बाल यंग के अनुसार, ''संस्कृति कम या अधिक रूप से संगठित और स्थायी आदतों, विचारों, अभिवृत्तियों और मूल्यों के नमूनों को कहते हैं, जिन्हें नवजात शिशु, जैसे–जैसे बड़ा होता है, अपने बड़ों और दूसरों से प्राप्त करता है।''

   एक संस्कृति में पला हुआ व्यक्ति दूसरी संस्कृति वाले व्यक्ति से भिन्न होता है। व्यक्तित्व पर संस्कृति के प्रभाव के कई कारण हैं। कुछ प्रमुख कारण निम्नांकित हैं–

   - व्यक्ति में सीखने की योग्यता होती है वह स्वभावतः कुछ न कुछ सिखता रहता है।
   - व्यक्ति की सीखने लालक सांस्कृतिक तत्वों जैसे, दूसरों की आदतों, विचारों अभिवृत्तियों, मूल्यों आदि के अधिगम से संतुष्ट होती रहती है।
   - संस्कृति सीखने के विषय एवं सीखने की दिशा भी प्रदान करती है। व्यक्ति संस्कृति में निहित तत्वों को एक विशेष तरीके से सीखता है। अपनी–अपनी संस्कृति के अनुसार ही हिन्दू हाथ मूस्लिम अभिवादन करना सीखता है।

   विभिन्न संस्कृतियों में पले हुए व्यक्तियों में विभिन्न संस्कृतियों की छाप देखने को मिलती है। व्यक्ति संस्कृति को अपनी इच्छा या अनिच्छा तथा ज्ञात या अज्ञात रूप से आत्मसात करता है। व्यक्ति संस्कृति के उन तत्वों को जो मूलप्रवृत्तियों को संतुष्ट करने वाले हैं, इच्छापूर्वक सीखता है और शेष को सामाजिक दबाव के कारण सीखता है। हम कुछ तत्वों को जान–बूझकर सीखते हैं और कुछ तत्व अपने आप अज्ञात रूप से हमारे व्यवहारों के अंग बनते हैं।

   इस प्रकार यदि हम देखें तो व्यक्तित्व को निर्धारित करने में संस्कृति को ही सब कुछ नहीं मान लेना चाहिए। अन्य कारणों से भिन्न–भिन्न व्यक्तियों में बहुत ही भेद पाया जाता है। किम्बाल यंग के शब्दों में, ''सांस्कृतिक एकताओं के होते हुए भी, प्रत्येक समाज के सदस्यों में कुछ अंश तक निजत्व होता है।''

10. **भौगोलिक परिस्थितियां** : व्यक्तित्व निर्माण में भौगोलिक परिस्थितियों का बहुत हाथ होता है, क्योंकि व्यक्ति को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए प्राकृतिक शक्तियों के साथ समायोजन एवं संघर्ष करना पड़ता है। इसीलिये पहाड़ों पर निवास करने वाले लोग साहसी एवं निडर होते हैं क्योंकि पहाड़ों की भौगोलिक परिस्थितियों से उन्हें रोज दो–चार होना पड़ता है। मैदानों में रहने वाले लोग कम परिश्रमी एवं आराम करने वाले होते हैं क्योंकि उनको भोजन एवं निवास हेतु प्रकृति से दो–चार नहीं होना पड़ता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि व्यक्तित्व के विकास में आनुवंशिकता तथा पर्यावरण दोनों का ही हाथ होता है। व्यक्तित्व, व्यक्ति के परिवेश और आनुवंशिकता का गुणनफल है। सुन्दर, शिष्ट एवं बलवान व्यक्तित्व के लिए उचित पर्यावरण एवं उत्तम आनुवंशिकता का परस्पर सहयोगी होना आवश्यक है।

टिप्पणी

3.3.4 बालक के लालन–पालन अभ्यास व व्यक्तित्व–विकास में समाजीकरण की भूमिका

व्यक्तित्व विकास एवं बालक के लालन–पालन अभ्यास में समाजीकरण की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। जब बालक जन्म लेता है तो वह परिवार का सदस्य बन जाता है जो उसके लिए प्राथमिक समूह होता है। यही प्राथमिक समूह बच्चे का समाजीकरण करता है तथा समाज के नियम–कानूनों तथा संस्कारों की जानकारी उसे प्रदान करता है। जब बच्चा बड़ा होने लगता है तो उसके दैनिक क्रिया कलापों के बारे में उसे परिवार ही ज्ञान प्रदान करता है कि कौन–सा कार्य उसके लिए हितकर है और कौन सा कार्य उसके लिए हानिकारक है।

व्यक्ति का जब इस संसार में आगमन होता है तो वह एक अबोध शिशु के रूप में ही होता है। वह न सामाजिक होता है और न ही असामाजिक। उसमें केवल कुछ जैविक गुण होते हैं। जब उसका समाज में लालन–पालन किया जाता है तो वह एक सामाजिक प्राणी बन जाता है। सामाजिकता में उसकी आवश्यकतायें जन्म लेती हैं जिनको पूरा करने हेतु वह समाज के अन्य व्यक्तियों से संव्यवहार या अन्तःक्रिया करता है, जिससे उसे नये–नये अनुभवों की प्राप्ति होती है। इन्हीं अनुभवों की सहायता से बालक सामाजिक परम्पराओं, नियमों, एवं रूढ़ियों के अनुसार व्यवहार करना सीखता है। समाज के इन नियमों को सीखने तथा उसके अनुसार व्यवहार करने की इस क्रिया को 'समाजीकरण' कहा जाता है।

व्यक्ति की आवश्यकतायें दो तरह की होती हैं– पहली प्राथमिक या जन्मजात तथा दूसरी अर्जित। इन दोनों प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति व संतुष्टि हेतु वह एक विशेष प्रकार के तरीके प्रयोग करता है। यही तरीके उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति एवं संतुष्टि हेतु उसके जीवन के अंग बन जाते हैं। बालक के प्रारम्भिक जीवन में ये तरीके नहीं पाये जाते हैं। इस समय उसकी मुलभूत आवश्यकता मात्र भोजन होती है। इसके लिए वह प्रत्यक्ष तरीके अपनाया है; अर्थात् वह रोने लगता है। लेकिन बालक जब धीरे–धीरे बड़ा होने लगता है तो वह इस तरीके को बंद कर देता है। अब वह भूख लगने पर सामाजीक रूप से निर्धारित नियमों के अनुसार इसकी पूर्ति करता है। कामेच्छा होने पर वह सामाजिक नियमों, परम्पराओं तथा संस्कारों का ध्यान रखता है। जिस प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति समाज के अनुकूल बनता है, उसे ही समाजीकरण कहते हैं। इस प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति प्राणिशास्त्रीय प्राणी से सामाजिक प्राणी बनता है।

व्यक्ति जिस रूप में दिखता है वह उसका वास्तविक या जन्मजात स्वरूप नहीं होता है। जन्म के समय बालक में कोई सामाजिक गुण नहीं होते हैं। वह जब सामाजिक बनने की ओर बढ़ता है तो वह सामाजिक गुणों को अर्जित करता है एवं समाज के साथ समायोजन करने का प्रयास करता है। अतएव व्यक्ति को समाज के नियम–कानूनों, प्रथाओं, रूढ़ियों तथा विश्वासों इत्यादि को ग्रहण करने की प्रक्रिया समाजीकरण है। जानसन के मतानुसार समाजीकरण एक प्रकार का सीखना है, जो सीखने वाले को सामाजिक कार्य करने योग्य बनाता है।

इस प्रकार उपरोक्त विश्लेषण के आलोक में यह कहा जा सकता है कि समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बालक परम्परागत प्रतिमानों को ग्रहण करता है जिससे सामाजिक गुणों का विकास होता है और समायोजन सम्भव होता है।

टिप्पणी

समाजीकरण की भूमिका : व्यक्तित्व विकास में समाजीकरण की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।बालक का जब जन्म होता है उसके बाद ही बालक दूसरों के प्रति सचेतनता प्रदर्शित करना शुरू कर देता है। जब कोई व्यक्ति उसके पास जाता है तो वह मुस्कराने लगता है तथा दूसरों को आकर्षित करने लगता है। बालक जब छः महीने का होता है तो तभी वह दूसरों को पहचानने लगता है। डेढ़ वर्ष की आयु में दूसरे बच्चों के साथ खेलने में भाग नहीं लेता है। दो से छः वर्ष की अवस्था में वह दूसरों के साथ खेलने लगता है तथा उसमें दूसरों से मेल–मिलाप करने की भावना का विकास होता रहता है।

इस आयु के बाद बालक प्राथमिक विद्यालय में प्रवेश लेता है जहां उसकी मनोवृत्ति एवं रुचि अन्य बच्चों के साथ कार्य करने तथा खेलने की होने लगती है। विद्यालय में वह एक बड़े समूह का सदस्य बन जाता है लेकिन इसके साथ ही साथ उसमें चयन करने की दृष्टि का विकास होता है। वह छोटे–छोटे समूहों का अपनी रुचि के अनुसार चयन करता है तथा उनसे अपनी भावनाओं को व्यक्त करता है। विद्यालय में प्रत्येक विद्यार्थी का अम्मन एक मित्र समूह होता है। आयु बढ़ने के साथ–साथ बच्चों में सामूहिक कार्यों का उत्तरदायित्व भी बढ़ जाता है तथा वह अपनी क्षमता के अनुकूल सामूहिक कार्यों में ज्यादा से ज्यादा भाग लेने लगता है।

समाजीकरण की इस प्रक्रिया में बच्चों के अन्दर सहभागिता द्वारा सामाजिक व्यवस्था के ज्ञान को सीखने का आधार प्राप्त होता है जिससे उनके अन्दर व्यक्तित्व का विकास सुव्यवस्थित रूप से होता है। इस समय बच्चे समूह की संगति में होते हैं, जहां पर वे सामूजिक क्रिया के द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं। यदि उनका समूह अच्छा होता है तो उनक व्यक्तित्व में सकारात्मक परिर्वतन होते हैं और यदि समूह गलत होता है तो उनके अन्दर नकारात्मक परिवर्तन देखने को मिलता है। अतः इस समय परिवार के सदस्यों को ज्यादा सावधान रहने की आवश्यकता होती है। बच्चों के समूह चयन में उन्हें अपनी राय भी देनी चाहिए।

बालक में धीरे–धीरे सामूहिक कार्यों के प्रति रुचि बढ़ने लगती है। बालक के जीवन में एक ऐसा समय आता है जब उसे वैयक्तिक खेलों की अपेक्षा सामूहिक खेल अधिक रूचिकर लगने लगते हैं। अधिकतर बालक दस वर्ष की आयु में उस अवस्था को पहुॅच जाते हैं जब उनमें सामूहिक चेतना का विकास हो जाता है।

बाल्यावस्था के आरंभ में बालक और बालिकायें समान रूप से समूह में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं परन्तु बाद में सामाजिक बंधनों तथा नैसर्गिक प्रवृत्ति के कारण अपने–अपने लिंगीय समूह में रुचि लेना शुरू करते हैं। किशोरावस्था में यह प्रवृत्ति बदल जाती है और विषमलिंगी आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। इस अवस्था में भी सामाजिक नियंत्रण प्रभावशील बना रहता है।

किशोरावस्था जो लगभग तेरह वर्ष से उन्नीस वर्ष के मध्य की अवस्था होती है, इसमें बालक एवं बालिकाओं के सामने अनेक नयीं परिस्थितियां एवं समस्यायें आ खड़ी होती हैं जिनसे उनको समायोजन करना पड़ता है। इस अवस्था में उनके अन्दर काफी परिवर्तन होने लगते हैं जिनसे भी उन्हें समायोजन करना पड़ता है।

टिप्पणी

बालिकाओं में शारीरिक परिवर्तन होते हैं जिनके कारण कई प्रत्याशायें तथा समस्यायें इतनी जटिल होती हैं कि बालिका को उचित मार्ग–दर्शन नहीं होने पर समाजीकरण की अनेक असफलतायें उनके सामने आने लगती हैं। यह वह अवस्था है जहां बालकों एवं बालिकाओं में विपरित लिंग के प्रति आकर्षण होने लगता है। इस अवस्था को संक्रमण काल की अवस्था कहा गया है।

व्यस्कावस्था या प्रौढ़ावस्था बीस साल से शुरू होकर पचपन साल तक चलती है। इस अवस्था में युवकों की शादी होती है और वे पारिवारिक जीवन शुरू करते हैं। इसमें युवक जीविकोपार्जन हेतु नौकरी–व्यापार शुरू करते हैं। इस अवस्था में युवकों के सामने अनेक महत्वपूर्ण समस्यायें आती हैं जिनके साथ उन्हें समायोजन करना होता है। इस तरह के समायोजन करने में व्यक्ति बहुत से नये व्यवहारों को सीखता है जिनमें प्रमुख रूप से दूसरों के साथ किस प्रकार से घनिष्ठ संबंध बनाना चाहिए एवं उनके साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए आदि के बारे में ज्ञान प्राप्त करता है। इस अवस्था में समाजीकरण बहुत तेजी से होता है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व को विकसित करता है तथा उसे समस्याओं से लड़ने की शक्ति प्रदान करता है।

वृद्धावस्था की उम्र पचपन के बाद की होती है। इस अवस्था में व्यक्ति की शारीरिक शक्ति कमजोर पड़ने लगती है और व्यक्ति सामान्यतः अवकाशकालीन जीवन व्यतीत करने लगता है। वह इस समय भगवान के भजन व सामाजिक कार्यों में रुचि लेने लगता है। वह दूसरे पर निर्भर रहने लगता है। इस समय व्यक्ति के सामने उसकी आवश्यकताओं से संबंधित समस्यायें उत्पन्न होने लगती है जिनसे समायोजन करने का वह प्रयास करता है।

इस प्रकार समाजीकरण व्यक्तित्व विकास में व्यक्ति की प्रत्येक अवस्था में सहायता करता है जिसकी वजह से व्यक्ति अपने को समायोजित किया करता है। जिन लोगों का समाजीकरण उचित तरीके से नहीं होता है वे समस्याओं से अपने आप को समायोजित नहीं कर पाते हैं तथा कुसमायोजित हो जाते हैं।

बालक के लालन–पालन अभ्यास में समाजीकरण : व्यक्तियों के पालन–पोषण या लालन–पालन में समाजीकरण की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विभिन्न समाज एवं संस्कृति में बच्चों के लालन–पालन की प्रणाली अलग–अलग होती है। न्यूकाम्ब के अनुसार जिन बच्चों के लालन–पालन में माता–पिता द्वारा उचित लाड़–प्यार किया जाता है तथा बच्चों की देख–रेख का कार्य स्वयं किया जाता है, उनमें सामाजिक नियमों को सीखने तथा उसके अनुसार व्यवहार करने की तीव्र प्रेरणा होती है। जिसके कारण, ऐसे बच्चों में समाजीकरण की प्रक्रिया अधिक तीव्र एवं संतोषजनक होती है। इसके विपरीत जिन बच्चों के लालन–पालन में माता–पिता द्वारा उचित लाड़–प्यार नहीं दिया जाता है तथा जिनकी देख–रेख स्वयं माता–पिता द्वारा न होकर किसी दूसरे ही व्यक्ति द्वारा की जाती है, उनमें समाजीकरण की प्रक्रिया धीमी एवं मन्द गति से होती है। ऐसे बच्चों में अधिक आयु हो जाने के बाद भी समाजिकता का लक्षण बहुत अधिक स्पष्ट रूप से नहीं दिखाई पड़ता है।

बालक के लालन–पालन अभ्यास में समाजीकरण की भूमिका को हम निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से समझने का प्रयास करेगें–

टिप्पणी

परिवार : व्यक्ति जब जन्म लेता है तो परिवार ही उसकी प्राथमिक इकाई या समूह होता है जहां उसके माता–पिता, भाई–बहन द्वारा उसका समाजीकरण किया जाता है। शुरू–शुरू में बालक परिवार पर आश्रित होता है एवं उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति परिवार में ही होती है। इस प्रकार बच्चे पर सबसे प्रथम प्रभाव परिवार का ही होता है। परिवार व्यक्ति की आधारभूत सामाजिक इकाई है जिसके द्वारा व्यक्ति समाज और संस्कृति के आधारभूत तत्व प्राप्त करता है। बोगार्डस ने इस संबंध में लिखा है कि मानव का सर्वप्रथम विद्यालय परिवार–समूह ही होता है। बच्चे की अनौपचारिक शिक्षा परिवार से शुरू होती है तथा बच्चे का सबसे महत्वपूर्ण शैक्षणिक समय परिवार में ही बीतता है।

प्रत्येक समाज अपनी संस्कृति के आधार पर ही दूसरे समाज से अलग दिखाई देता है। इसका प्रमुख कारण प्रत्येक समाज की अपनी संस्कृति का होना है। सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए समाज के सभी सदस्यों से अपेक्षा की जाती है कि वह समाज की संस्कृति जिसमें रीति–रिवाज, परम्परायें, विश्वास इत्यादि आते हैं, के अनुसार कार्य करते हुए अपना जीवन–यापन करे। परिवार ही बच्चे की प्राथमिक पाठशाला है जिसके द्वारा वह अपनी संस्कृति से परिचित होता है। यहीं पर उसे आचार–व्यवहार के तरीके जैसे, किस प्रकार से उठना–बैठना है, किस प्रकार से भोजन करना चाहिए, किस प्रकार के कपड़े पहनने चाहिए तथा किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए के बारे में ज्ञान प्राप्त होता है। काम्टे के अनुसार, परिवार सामाजिक जीवन की अमर पाठशाला है। परिवार से बच्चे में ऐसे गुण उत्पन्न होते हैं जो उसके लिए आवश्यक होते हैं। वे गुण हैं–1. प्रेम 2. सहयोग 3. त्याग 4. सहिष्णुता 5. परोपकार 6. कर्तव्य पालन 7. आज्ञा पालन 8. सामंजस्य 9. अनुशासन एवं 10. परिश्रमशीलता इत्यादि।

पड़ोस : परिवार के बाद बच्चे के समाजीकरण करने में पड़ोस का दूसरा स्थान है। बच्चा एक निश्चित आयु के बाद परिवार से निकलकर वाह्य बातावरण में सांस लेना चाहता है। बच्चे के व्यक्तित्व पर पड़ोस एक अस्थिर छाप डालता है। यही कारण है कि माता–पिता चाहते हैं कि जहां रहो वहां का पर्यावरण या पड़ोस उचित एवं अनुकूल हो। इस प्रकार बच्चे के लालन–पालन में पड़ोस भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

खेल–समूह : बच्चा जब बड़ा होने लगता है तो वह पास–पड़ोस के व अन्य बच्चों के साथ भी संबंध स्थापित करता है और खेल समूह का निर्माण करता है। वह बच्चों के साथ घूमता एवं खेल खेलता है। सामाजिक गोष्ठियों तथा समूहों में सक्रिय भाग लेता है। दस वर्ष की आयु से बच्चा प्रतियोगिताओं में अधिक प्रतिभाग करना पसन्द करने लगता है। वह जिस भी समूह का सदस्य बनता है उसके प्रति अपनी निष्ठा प्रदर्शित करता है। उसकी पूर्ण रुचि समूह के प्रति केन्द्रित हो जाती है। खेल समूह के नियम, कानून एवं पर्यावरण बच्चे के व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बच्चे के लालन–पालन में समाजीकरण की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।

विद्यालय : विद्यालय एक ऐसी संस्था होती है जहां पर बच्चा ज्ञान के साथ–साथ बच्चों के साथ खेलता व अन्य क्रियायें करता है। वह अन्य बच्चों के जैसे बनने का

प्रयास करता है। यहीं पर वह अपने जैसे समूहों का निर्माण करता है जिनके साथ वह अधिक से अधिक समय व्यतीत करता है। वैयक्तिक भिन्नता होने के अलावा भी बच्चे का अधिकतर सामाजिक विकास उसकी उन सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर होता है जिनमें वह शिक्षा प्राप्त करता है। इस दृष्टि से कक्षा तथा विद्यालय के सामाजिक वातावरण बच्चे के लिए अत्यन्त ही महत्वपूर्ण होते हैं। ये बच्चे की विचारधारा एवं भावनाओं पर बहुत अधिक प्रभाव डालते हैं।

विद्यालय में पाये जाने वाले सामाजिक पर्यावरण को तीन भागों में बांटा जा सकता है–

1. निरंकुश प्रवृत्ति के अध्यापकों द्वारा उत्पन्न पर्यावरण में सामाजिक विकास की कोई सम्भावना नहीं होती है। इसके कारण बच्चे में समाज विरोधी भावनायें उत्पन्न हो जाती हैं। बच्चे एक–दूसरे के विचारों का आदान–प्रदान न होने से सामूहिक कार्यों में रुचि नहीं लेते हैं।
2. दुर्बल या कमजोर व्यक्तित्व वाले सरल शिक्षकों के द्वारा उत्पन्न किया गया पर्यावरण बच्चों को अनुशासनहीन एवं उदण्ड बना देता है।
3. सामान्य शिक्षकों द्वारा उत्पन्न किया गया पर्यावरण बच्चों में सहकारिता की भावना को जन्म देता है। उनमें सामूहिक भावना, कार्यों के प्रति रुचि उत्पन्न होती है तथा सहज सामान्य व्यक्तित्व का विकास होता है।

इस प्रकार उपरोक्त बिन्दुओं के माध्यम से स्पष्ट होता है कि लालन–पालन में समाजीकरण की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती है। समाजीकरण के बिना बच्चे के व्यक्तित्व का समुचित विकास मुश्किल है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. प्रत्येक कोशिका में कितने क्रोमोसोम्स होते हैं?

   (क) 38 (ख) 48

   (ग) 75 (घ) 100

4. समाजीकरण एक प्रकार का सीखना है, जो सीखने वाले के सामाजिक कार्य करने योग्य बनाता हैं यह कथन किसका है?

   (क) जानसन (ख) बोगार्ड्स

   (ग) फिशर (घ) क्रिम्बाल यंग

3.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (घ)
2. (घ)
3. (ख)
4. (क)

टिप्पणी

3.5 सारांश

सामान्य रूप से देखा जाय तो मानव अपनी आवश्यकताओं के कारण अकेला नहीं रहना चाहता है। चूंकि व्यक्ति की आवश्यकतायें केवल उसके द्वारा ही पूरी नहीं हो सकती है, इनके लिए वह दूसरों पर भी निर्भर रहता है। शुरुआत में मानव का समाजिक भागीकरण कम होता है लेकिन धीरे–धीरे इसमें वृद्धि होती जाती है। प्रत्युत्तर में भिन्नता देखने को मिलती है। इस प्रत्युत्तरों का कारण व्यक्ति का दूसरों पर निर्भर होना होता है।

समाजीकरण से हमारा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह का क्रियात्मक सदस्य बनता है, उसी के स्तर के अनुसार कार्य करता है, लोकाचार, परम्परा तथा सामाजिक परिस्थितियों के साथ अपना संबंध स्थापित करता है।

प्रत्येक कोशिका में 48 क्रोमोसोम्स होते हैं जिनमें अनेक जीन्स होते हैं। क्रोमोसोम्स गुण द्वारा ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में पैतृक गुण हस्तांतरित होते रहते हैं। यह हस्तांतरण लैंगिक समागम द्वारा संम्भव होता है। जब माता–पिता के मध्य लैंगिक समागम होता है तो पिता के शुक्र कोष्ठ माता के अण्ड कोष्ठ में प्रवेश करते हैं। उसी समय गर्भाधान संभव होता है जिसे भ्रूण कहते हैं। इसमें शुक्राणु व अंडाणु के वे सभी गुण आ जाते हैं जो माता–पिता में विद्यमान होते हैं। इन्हीं गुणों को आनुवंशिकता कहा जाता है।

पर्यावरण के सभी तत्व व्यक्ति के विकास पर अपना विशेष एवं न मिटने वाला प्रभाव डालते हैं। इसमें व्यक्ति के वे अनुभव जो वह दूसरे व्यक्तियों के सम्पर्क में आने से प्राप्त करता है उसके प्रभाव भी उस पर स्पष्ट पड़तें हैं। पर्यावरण के तत्व का प्रभाव व्यक्ति के जीवन पर हमेशा ही होता है। इस प्रकार के परिवर्तनों का पता दूसरे व्यक्तियों के अध्ययन से होता है।

व्यावहारिक प्रतिक्रिया संबंधी तथ्यों जैसे, चिल्लाना, ईर्ष्या, चिड़चिड़ापन, शान्त प्रकृति इत्यादि का अध्ययन किया गया तो यह संकेत मिला कि जैविक स्थिति तथा पर्यावरण बालक के विकास के लिए उत्तरदायी होते हैं। व्यक्ति जब किसी पर्यावरण में होता है तो वह उसी प्रकार के पर्यावरण के अनुरूप अपना व्यक्तित्व बना लेता है। वह अपने अनुभवों की एक अवस्था को प्राप्त करता है। सामाजिक पर्यावरण और तात्कालिक अनुभव व्यक्ति के विकास को काफी हद तक प्रभावित करते हैं।

व्यक्ति का जब इस संसार में आगमन होता है तो वह एक अबोध शिशु के रूप में ही होता है। वह न सामाजिक होता है और न ही असामाजिक। उसमें केवल कुछ जैविक गुण होते हैं। जब उसका समाज में लालन–पालन किया जाता है तो वह एक सामाजिक प्राणी बन जाता है। सामाजिकता में उसकी आवश्यकतायें जन्म लेती हैं जिनको पूरा करने हेतु वह समाज के अन्य व्यक्तियों से संव्यवहार या अन्तःक्रिया करता है, जिससे उसे नये–नये अनुभवों की प्राप्ति होती है। इन्हीं अनुभवों की सहायता से बालक सामाजिक परम्पराओं, नियमों, एवं रूढ़ियों के अनुसार व्यवहार करना सीखता है। समाज के इन नियमों को सीखने तथा उसके अनुसार व्यवहार करने की इस क्रिया को 'समाजीकरण' कहा जाता है।

टिप्पणी

सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए समाज के सभी सदस्यों से अपेक्षा की जाती है कि वह समाज की संस्कृति जिसमें रीति–रिवाज, परम्परायें, विश्वास इत्यादि आते हैं, के अनुसार कार्य करते हुए अपना जीवन–यापन करे। परिवार ही बच्चे की प्राथमिक पाठशाला है जिसके द्वारा वह अपनी संस्कृति से परिचित होता है। यहीं पर उसे आचार–व्यवहार के तरीके जैसे, किस प्रकार से उठना–बैठना है, किस प्रकार से भोजन करना चाहिए, किस प्रकार के कपड़े पहनने चाहिए तथा किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए के बारे में ज्ञान प्राप्त होता है।

3.6 मुख्य शब्दावली

- **आनुवंशिकता** : आनुवंशिकता का तात्पर्य ऐसी प्रक्रिया से है जिसके तहत बच्चे में उसके माता–पिता तथा पूर्वजों के गुण हस्तांतरित होते हैं।
- **पर्यावरण** : चारों ओर से घिरा हुआ या ढंगा।
- **समाजीकरण** : समाज के नियम–कानूनों, प्रथाओं, रूढ़ियों तथा विश्वासों इत्यादि को ग्रहण करने की प्रक्रिया को समाजीकरण कहते हैं।

3.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. मनुष्य का समाजीकरण क्यों आवश्यक है?
2. आनुवंशिकता से क्या आशय है?
3. पर्यावरण का अर्थ बताइए।
4. व्यक्तित्व विकास में पर्यावरण की क्या भूमिका होती है?
5. बालक के लालन–पालन अभ्यास में समाजीकरण मूलतः क्या असर डालता है।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. मानव समाजीकरण से आप क्या समझते हैं? विविध विद्वानों द्वारा दी गई इसकी परिभाषाओं का उल्लेख कीजिए।
2. मानव समाजीकरण की विविध अवस्थाओं का रेखांकन कीजिए।
3. व्यक्तित्व विकास में आनुवंशिकता की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।
4. पर्यावरण बालक के व्यक्तित्व–विकास को किस प्रकार प्रभावित करता है? समझाकर लिखिए।
5. व्यक्तित्व–विकास एवं बालक के लालन–पालन अभ्यास में समाजीकरण की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

टिप्पणी

3.8 सहायक पाठ्य सामग्री

1. बेनेडिक्ट, रूथ, ''रेस ऐण्ड रेसिज्म'', पेज–53..
2. शेफर, ''बोरिंग्स फाउण्डेशन ऑफ साइको'', पेज–5.2.
3. फेयरचाइल्ड, एच. पी., ''(इडिटेड) डिक्शनरी ऑफ सोशियोलाजी'', फिलासोफिकल लाइब्रेरी, न्यूयाक्र, वर्ष, 1966, पेज–14..
4. यूनेस्को, ''ह्वाट इज रेस''
5. काक्लिन, इडविन ग्राण्ट, ''हेरिडिटी ऐण्ड इनवायर्नमेण्ट'', प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिन्सटन, वर्ष, 193., पेज–135.
6. जिंसवर्ट, पी., ''फण्डामेण्टल्स आफ सोशियोलोजी'', ओरियन्स, लांगमैन्स, बाम्बे, वर्ष, 1959, पेज–229.
7. यंग, किम्बाल, ''ए हैण्ड बुक ऑफ सोशल साइकोलाजी'', पेज–7, 44.
8. प्रसाद, डॉ. आद्य, ''सरल सामान्य मनोविज्ञान'', मनोहर पब्लिकेशन, गोरखपुर, वर्ष, 1984, पेज–253–258.
9. मिश्र, डॉ. पी. डी., ''सामाजिक सम्बन्धों के मूलतत्व'' उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, वर्ष, 1986, पेज–377–378.

इकाई 4 व्यक्तित्व विकास के सिद्धांत

टिप्पणी

संरचना

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 व्यक्तित्व की अवधारणा
  4.2.1 व्यक्तित्व का अर्थ एवं परिभाषाएँ
  4.2.2 व्यक्तित्व की विशेषतायें
  4.2.3 व्यक्तित्व के प्रकार
4.3 व्यक्तित्व का मनो–गतिशील सिद्धांत
  4.3.1 सिगमण्ड फ्रायड का व्यक्तित्व सम्बन्धित 'मनोविश्लेषणात्मक' सिद्धान्त
  4.3.2 अल्फ्रेड एडलर का सिद्धांत
  4.3.3 कूले का व्यक्तित्व सम्बन्धी सिद्धान्त
  4.3.4 आटो रैंक का व्यक्तित्व का सिद्धान्त
  4.3.5 कार्ल युंग का सिद्धांत
4.4 व्यवहार का सिद्धांत
4.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.6 सारांश
4.7 मुख्य शब्दावली
4.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.9 सहायक पाठ्य सामग्री

4.0 परिचय

व्यक्तित्व शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'Personality' शब्द से हुई है, जिसका तात्पर्य 'मुखौटा' या 'नकाब' होता है। वास्तव में 'Personality' शब्द ग्रीक भाषा के 'Person' से लिया गया है तथा 'Person' शब्द भी ग्रीक भाषा के 'Prosopon' शब्द से लिया गया है जिसका आशय 'आकृति' या 'चेहरे' का भाव है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि व्यक्तित्व का तात्पर्य किसी व्यक्ति के वाह्य रूप या शारीरिक संरचना से लगाया जाता है।

आज के समय में व्यक्ति के व्यक्तित्व का अर्थ उसके आन्तरिक एवं वाह्य गुणों से लगाया जाता है। किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके आंतरिक एवं वाह्य व्यवहार, उसकी रूचियों, अभिवृत्तियों, योग्यताओं, क्षमताओं, आदतों, प्रेरणाओं, उद्देश्यों तथा शारीरिक गुणों के सम्मिलित–सम्पूर्ण योग को कहते हैं। व्यक्तित्व एक गतिशील अवधारणा है। यह पर्यावरण के प्रभाव से परिवर्तित होती रहती है। व्यक्ति जिस पर्यावरण या सामाजिक सांस्कृतिक विशेषताओं के साथ अपना अनुकूलन करता है, उसी के अनुसार उसका व्यक्तित्व हो जाता है। अतः स्पष्ट होता है कि, व्यक्ति के अन्दर पाये जाने वाले शारीरिक तथा मानसिक गुणों के गत्यात्मक संकलन को ही व्यक्तित्व कहते हैं।

इस इकाई में हम व्यक्तित्व की अवधारणा, इसकी विशेषताएं एवं स्वरूप का अवलोकन करते हुए व्यक्तित्व के मनो–गतिशील सिद्धांतों की विवेचना करेंगे और इसके साथ ही व्यवहार का सिद्धांत भी समझेंगे।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

टिप्पणी

- व्यक्तित्व की अवधारणा से परिचित हो पाएंगे;
- व्यक्तित्व की विशेषताओं एवं प्रकारों को समझ पाएंगे;
- व्यक्तित्व के मनो–गतिशील सिद्धात की विवेचना कर पाएंगे;
- सिगमण्ड फ्रायड अल्फ्रेड एडलर, कूले, आटो रैंक एवं कार्ल युंग की संकल्पना को समझ पाएंगे;
- व्यवहार सिद्धांत का विश्लेषण कर पाएंगे।

4.2 व्यक्तित्व की अवधारणा

व्यक्तित्व के स्वरूप का अध्ययन करते समय किसी ऐसे व्यक्ति का ध्यान होना स्वाभाविक है जो दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। किसी आयोजन में बहुत से लोग एकत्र हैं तो कुछ ऐसे व्यक्ति वहाँ अवश्य होंगे जो दूसरे लोगों का ध्यान अपनी ओर अपने आकर्षक व्यक्तित्व के कारण आकर्षित करते हैं।

व्यक्तित्व शब्द ऐसा शब्द है जिससे किसी व्यक्ति की आंतरिक एवं वाह्य विशेषताओं के बारे में जानकारी हासिल की जा सकती है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के बारे में जब अध्ययन करने की बात होती है, तब हम व्यक्ति के गुणों के बारे में जानकारी करने का प्रयास करते हैं, क्योंकि व्यक्तित्व किसी व्यक्ति का वह गुण है जिससे व्यक्ति की विशेषताओं के बारे में पता चलता है। वास्तव में व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग हम विभिन्न अर्थों में करते हैं। व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग कभी व्यक्ति के व्यवहारों की जानकारी प्राप्त करने के लिए किया जाता है, तो कभी व्यक्ति की मानसिक क्षमता की जानकारी करने के लिए। व्यक्तित्व कभी व्यक्ति की समायोजन की क्षमता के बारे में जानकारी प्रदान करता है, तो कभी किसी व्यक्ति की शारीरिक बनावट के बारे में जानकारी प्रदान करता है। वास्तविकता तो यह है कि व्यक्तित्व एक एक ऐसा शब्द है जिसमें किसी व्यक्ति की वे सभी विशेषतायें समाहित होती हैं जो शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक रूप से दिखाई देती हैं। सारतः यह किसी व्यक्ति के गुणों का सम्पूर्ण योग है।

4.2.1 व्यक्तित्व का अर्थ एवं परिभाषाएँ

व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को ध्यान में रखते हुए विभिन्न दार्शनिकों, मनोवैज्ञानिकों एवं समाजशास्त्रियों ने इसकी अनेक परिभाषाएँ दी हैं। यदि व्यक्तित्व की समस्त परिभाषाएँ एकत्र की जायें तो उनकी संख्या सैकड़ो में होगी। विद्वानों द्वारा प्रदान की गई परिभाषाओं को उनकी विशेषताओं के अनुसार यदि हम विभिन्न वर्गों में विभाजित कर लें तो उनको समझना आसान होगा। अतः सुविधा की दृष्टि से व्यक्तित्व परिभाषाओं को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, जो अग्रलिखित हैः–

(1) संग्राही परिभाषाएँ,

(2) समाकलनात्मक परिभाषाएँ,

(3) सोपानित परिभाषाएँ,

(4) समायोजनपरक परिभाषाएँ,

टिप्पणी

1. संग्राही परिभाषाएँ : यह वर्ग व्यक्तियों के गुणों के आधार पर वर्गीकृत किया गया है। इसमें व्यक्तित्व की उन परिभाषाओं को रखा जा सकता है, जो व्यक्ति के विभिन्न लक्षणों, गुणों, आदि के समूह पर जोर देती हैं।

आलपोर्ट के अनुसार, संग्राही वर्ग के अन्तर्गत वे परिभाषाएँ आती हैं जो व्यक्ति की समस्त अनुक्रियाओं, प्रतिक्रियाओं एवं जैविक गुणों आदि के समुच्चय पर बल देती हैं। संग्राही वर्ग की परिभाषा के अन्तर्गत मॉर्टन प्रिन्स द्वारा दी गयी व्यक्तित्व की परिभाषा को मुख्यतया रखा गया है, जो अग्रलिखित है–

''व्यक्तित्व व्यक्ति की समस्त जैविक, जन्मजात–विन्यास, उद्वेग, रूझान, क्षुधाएँ, मूलप्रवृत्तियाँ तथा अर्जित विन्यासों एवं प्रवृत्तियों का समूह हैं।''

इस परिभाषा में मॉर्टन प्रिन्स ने जैविक, एवं मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों के समुच्चय पर बल दिया है। इस संग्राही परिभाषा में व्यक्ति के जीवन, मन और बुद्धि से सम्बन्धित सभी बातों को सम्मिलित कर लिया गया है।

मॉर्टन प्रिन्स ने यह परिभाषा सन् 1924 में दी थी जो उनकी पुस्तक 'अन्कान्शस' में वर्णित है। सन् 1919 में केम्फ ने व्यक्तित्व की एक वैज्ञानिक परिभाषा देने का प्रयास किया था, जिसमें उन्होंने भी प्रायः सभी प्रकार के मानव व्यवहारों को सम्मिलित कर लिया था, पर साथ ही केम्फ की इस परिभाषा में समायोजन का भी उल्लेख किया गया जो कि व्यक्तित्व की परिभाषाओं के चौथे वर्ग में रखा जा सकता है। केम्फ की व्यक्तित्व की परिभाषा निम्नलिखित हैं–

''व्यक्तित्व समायोजन की वह अभ्यासीय विधि है, जो जीव अपने स्वकेन्द्रीय प्रेरकों तथा पर्यायवरण की आवश्यकताओं के मध्य विकसित करता है।''

2. समाकलनात्मक परिभाषाएँ : इस प्रकार के वर्ग में व्यक्तित्व के समाकलन पर पर्याप्त बल दिया गया हैं। हम जानते हैं कि व्यक्तित्व केवल विभिन्न प्रवृत्तियों का जोड़ अथवा योग नहीं है, बल्कि, जब वे एकत्र किये जाते हैं तब उनमें एक प्रकार का समाकलन पाया जाता है और इस कारण उनमें विशेषता उत्पन्न हो जाती है। व्यक्तित्व की समाकलनात्मक परिभाषा में मूलतः निम्नलिखित तीन उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं–

वारेन तथा कारमाइकेल के अनुसार, ''व्यक्ति के विकास की किसी अवस्था पर उसके सम्पूर्ण संगठन को व्यक्तित्व कहते हैं।''

मेंक–डी ने व्यक्तित्व की परिभाषा इन शब्दों में की है, ''व्यक्तित्व प्रतिदर्शियों (रूचियों) का वह समाकलन है जो जीवन के व्यवहार में एक विशेष प्रकार की प्रवृत्ति करता हैं।''

गजेल के शब्दों में, ''व्यक्तित्व वह व्यापक अतिप्रतिदर्श है जो जीव के व्यक्तित्व व्यवहार की विशेषता में निहित समाकलन को व्यक्त करता है।''

ऊपरोक्त तीनों परिभाषाओं में व्यक्तित्व में निहित संगठन एवं समाकलन को प्रमुखता प्रदान की गयी है। इस प्रकार से यह स्पष्ट होता है कि व्यक्तित्व उन तत्वों का समाकलनात्मक पुंज है जो किसी व्यक्ति की विशेषता एवं निर्भरता का परिचायक हैं।

टिप्पणी

3. सोपानित परिभाषाएँ : व्यक्तित्व की परिभाषाओं के बारे में कुछ मनोवैज्ञानिकों ने कई सोपान बताये हैं। इन परिभाषाओं में व्यक्तित्व के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ सोपानों का उल्लेख होता है। विलियम जेम्स ने व्यक्तित्व की जो पद के क्रम के अनुसार व्याख्या की है, वह अत्याधिक प्रचलित है।

जेम्स के अनुसार व्यक्तित्व अथवा 'स्व' के चार सोपान होते हैं। पहला सोपान भौतिक है, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति के शरीर की बनावट तथा आनुवंशिकता से प्राप्त विशेषताएँ सम्मिलित हैं। इस प्रकार भौतिक व्यक्तित्व पहले सोपान पर है।

व्यक्तित्व का दूसरा सोपान सामाजिक है और इसी आधार पर सामाजिक व्यक्तित्व का उल्लेख किया जाता है। व्यक्ति के सामाजिक व्यक्तित्व का विकास विभिन्न प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों के द्वारा होता हैं। दृष्टव्य है कि व्यक्ति न केवल अपने परिवार का सदस्य है बल्कि समाज के विभिन्न प्रकार के जो समूह होते हैं उनमें भी वह अपनी आवश्यकतानुसार भाग लेता है। इसी के परिणामस्वरूप व्यक्ति का सामाजिक व्यक्तित्व विकसित होता है।

जेम्स ने आध्यात्मिकता को व्यक्तित्व का तीसरा सोपान बताया है। व्यक्ति का आध्यात्मिक व्यक्तित्व उस समय विकसित होता है जब उसकी रूचि आध्यात्मिक विषयों के प्रति उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में, जब व्यक्ति अपने सामाजिक सम्बन्धों से अधिक महत्व ईश्वर के प्रति निष्ठा को देता है तब उसके आध्यात्मिक व्यक्तित्व का विकास होने लगता है।

जेम्स ने शुद्ध अहं को व्यक्तित्व का चौथा सोपान बताया है। अर्थात् जब व्यक्ति अपने आत्मस्वरूप का पूर्व ज्ञान प्राप्त कर लेता है और सभी वस्तुओं में अपनी आत्मा का दर्शन करता है, तब वह अपने विकास के चौथे तथा अन्तिम सोपान पर पहुँचता है।

श्री अरविन्द ने भी व्यक्ति के विकास के क्रम में भौतिक–प्राणिक अथवा भावात्मक–बौद्धिक, चैत्य–आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक सोपानों का उल्लेख किया है। ज्यों–ज्यों व्यक्ति अपनी आत्मा को पहचानता जाता है और उसकी चेतना इसी क्रम से ऊपर की ओर बढ़ती है, त्यों–त्यों उसके व्यक्तित्व में भी इन्हीं सोपानों के अनुसार परिवर्तन आने लगता है।

4. समायोजनपरक परिभाषाएँ : मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व के अध्ययन एवं व्याख्या में आधुनिक जैविकी के प्रभाव के फलस्वरूप जो समायोजन उत्पन्न होता है उसको महत्वपूर्ण मानते हैं। व्यक्तित्व की जो परिभाषाएँ इस वर्ग में सम्मिलित की जाती हैं, उनमें समायोजन पर सबसे अधिक जोर दिया जाता है। केम्फ ने व्यक्तित्व की जो परिभाषा दी है, उसमें भी समायोजन का उल्लेख है, लेकिन इस वर्ग की सबसे प्रसिद्ध एवं प्रतिनिधि परिभाषा जी.डब्लू. आलपोर्ट की है, जिसमें व्यक्ति की गत्यात्मकता, निर्भरता के साथ–साथ पर्यावरण में समायोजन पर भी बल दिया गया है। आलपोर्ट के अनुसार,

''व्यक्तित्व, व्यक्ति की उन मनो–शारीरिक पद्धतियों का वह आन्तरिक गत्यात्मक संगठन है, जो पर्यावरण में उसके अनन्य समायोजन को निर्धारित करता है।''

टिप्पणी

आलपोर्ट की इस परिभाषा में व्यक्तित्व के उन लक्षणों की ओर संकेत किया गया है जिनके बिना इसका अध्ययन अधूरा होता है। आलपोर्ट के अनुसार, व्यक्तित्व का गठन गत्यात्मक है। दूसरे शब्दों में, व्यक्तित्व–सम्बन्धी जितने भी घटक हैं, चाहे वे शारीरिक हों अथवा मानसिक उन सबका गठन इस प्रकार होता है कि वे निरन्तर गतिशील रहते हैं। व्यक्तित्व व घटकों की इसी गत्यात्मकता के कारण व्यक्ति में एक विशेष प्रकार की निर्भरता पायी जाती है और वह निर्भरता उस समय स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ती है जब व्यक्ति विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों में समायोजन का प्रयास करता है।

व्यक्तित्व और समायोजन के सन्दर्भ में आलपोर्ट का यह कथन महत्वपूर्ण है कि, व्यक्तित्व को एक निष्क्रिय वस्तु नहीं माना जा सकता है, क्योंकि परिस्थितियाँ व्यक्तित्व पर पूर्णतः अधिकार नहीं कर सकतीं। किसी व्यक्तित्व में यह भी क्षमता पायी जाती है कि वह परिस्थितियों में परिवर्तन ला दे और उन्हें अपने अनुकूल बना ले। प्रायः यह देखा गया है कि कुछ लोग जब व्यक्तित्व समायोजन की बात करते हैं तब वे परिस्थितियों को प्रधानता देते हैं और व्यक्तित्व को उस एक मिट्टी के लौंदे की तरह मान लेते हैं जो कि परिस्थितियों के दबाव में आकर भिन्न रूप ग्रहण करता रहता है।

व्यक्तित्व के संप्रत्यय

व्यक्तित्व के स्वरूप और परिभाषा का सामान्य परिचय प्राप्त करने के पश्चात् यह अपेक्षित है कि हम उन संप्रत्ययों या अवधारणाओं से भी परिचित हो लें जिनका उल्लेख व्यक्तित्व के सन्दर्भ में किया जाता है। इनमें में से चरित्र एक अत्यधिक महत्वपूर्ण संप्रत्यय है। अनेक मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व के लिए चरित्र शब्द का भी प्रयोग करते हैं। इस प्रकार व्यक्तित्व और चरित्र के विषय में जो बातें कही गयी हैं उनमें भ्रम होना स्वाभाविक है।

कुछ मनोवैज्ञानिकों ने यह प्रयास किया कि चरित्र संप्रत्यय की ऐसी व्याख्या की जाय जिससे कि व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भ्रम उत्पन्न न हो। जी. डब्लू. आलपोर्ट ने इस दिशा से सराहनीय कार्य किया है। उन्होंने व्यक्तित्व–सम्बन्धी अपनी पुस्तक में चरित्र के विभिन्न पक्षों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार मनोवैज्ञानिक जब चरित्र का उल्लेख करते हैं तब उनका तात्पर्य व्यक्तित्व के किसी एक पक्ष से होता है।

चरित्र का सम्बन्ध मुख्यतः व्यक्ति की इच्छा–शक्ति से है। कोई व्यक्ति किसी कार्य में अपनी इच्छा–शक्ति को किस सीमा तक लगाता है यह उसके चरित्र का द्योतक है। कुछ मनोवैज्ञानिकों एवं समाजशास्त्रियों ने चरित्र संप्रत्यय के बारे में बताया है कि, चरित्र से हमारा तात्पर्य व्यक्ति के नैतिक आधार एवं विचार से है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति के चरित्र का एक सामाजिक तथा नैतिक पक्ष है और इसी आधार पर व्यक्ति का मूल्यांकन किया जाता है।

किम्बाल यंग के अनुसार, ''अपने प्रयोजनों के लिए हम व्यक्तित्व को एक व्यक्ति की आदतों, लक्षणों, मनोवृत्तियों तथा विचारों के बहुत कुछ प्रतिमानित संग्रह के रूप में परिभाषित कर सकते हैं, जो बाहरी तौर पर कार्यों तथा स्थितियों के रूप

में संगठित होते हैं लेकिन आंतरिक रूप से प्रेरणाओं, लक्ष्यों तथा आत्म के विभिन्न पहलुओं से संबधित होते हैं।''

टिप्पणी

मन, एन. एल. के अनुसार, ''व्यक्तित्व की परिभाषा एक व्यक्ति के ढ़ांचे, व्यवहार के तरीकों, रूचियों, मनोवृत्तियों, सामान्यों, योग्यताओं और अभिरूचियों के सर्वाधिक विशिष्ट संगठन के रूप में की जा सकती है।''

यंग, किम्बाल के अनुसार, ''अपने उद्देश्यों के लिए व्यक्तित्व की कम या अधिक आदतों, लक्षणों, मनोवृत्तियों, विचारों को उस समग्रता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसका निर्माण वाह्य रूप में एक व्यक्ति के कार्यों तथा परिस्थितियों के रूप में होता है तथा आंतरिक रूप से वे सम्प्रेरणाओं, उद्देश्यों तथा आत्मा के विभिन्न तत्वों से संबंधित होते हैं।''

डेशिल, जे. एफ., के अनुसार, ''व्यक्ति का व्यक्तित्व सम्पूर्ण रूप से उसकी प्रतिक्रियाओं की सम्भावनाओं की उस ढंग की व्यवस्था है जिससे उसका सामाजिक प्राणियों द्वारा आंकलन होता है। यह व्यक्ति के व्यवहारों का एक समायोजित संकलन है जो व्यक्ति अपने सामाजिक समायोजन के लिए करता है।''

इस प्रकार उपरोक्त परिभाषाओं के आलोक में हम कह सकते हैं कि, व्यक्तित्व, व्यक्ति के आंतरिक एवं वाह्य व्यवहार के तरीके, रूचियों, अभिवृत्तियों, योग्यताओं, क्षमताओं, आदतों, प्रेरणाओं, उद्देश्यों तथा शारीरिक गुणों आदि के सम्मिलित योग को कहते हैं।

व्यक्तित्व शब्द की व्याख्या

'Personality' शब्द की यदि हम इस प्रकार व्याख्या करें तो व्यक्तित्व के संबंध में बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है–

P = Psychological Development (मनोवैज्ञानिक विकास की विशेषतायें एवं गुण)

E = External Adjustment (वाह्य समायोजन)

R = Reservior (संग्रहालय)

S = Social quality (सामाजिक विशेषतायें)

O = Organic Traits (शरीरिक गुण)

N = Needs (आवश्यकतायें)

A = Appearance (मुखौटा)

L = Learning (ज्ञान का स्तर)

I = Intelligence (बुद्धि)

T = Temperament (स्वभाव)

Y = Yearning (लालसा)

स्रोतः–(P.D. Misra, Personality * वैयक्तिक सामाजिक सेवा कार्य, PP-289-290).

टिप्पणी

4.2.2 व्यक्तित्व की विशेषतायें

व्यक्तित्व की विशेषताएं अग्रलिखित हैं–

1. व्यक्तित्व किसी व्यक्ति के व्यवहार को निश्चित करने का तरीका है।
2. व्यक्ति की रुचियां व्यक्तित्व का अंग होती हैं।
3. विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर व्यक्तित्व में परिवर्तन आता है।
4. व्यक्ति की क्षमतायें उसके व्यक्तित्व की अर्जित शक्ति होती हैं, जो उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करती है।
5. किसी भी व्यक्ति द्वारा उसकी अपनी समस्याओं से समायोजन करना उसके व्यक्तित्व की देन होती है।
6. किसी भी व्यक्ति में उसके विचारों के प्रकार उसके व्यक्तित्व की देन होते हैं।
7. व्यक्ति की मनोवृत्तियां व्यक्तित्व में महत्वपूर्ण होती हैं।
8. व्यक्तित्व पर मूल्यों का प्रभाव पड़ता है तथा मूल्यों से व्यक्ति की आदतें नियंत्रित होती हैं।
9. व्यक्ति के व्यक्तित्व में स्थायी गुणों की झलक दिखाई देती है।
10. व्यक्तित्व द्वारा परिवर्तनशील पर्यावरण के साथ व्यक्ति का अनुकूलन दिखाई देता है।
11. किसी व्यक्ति की शारीरिक रचना तथा उसकी मानसिक विशेषतायें व्यक्तित्व में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

4.2.3 व्यक्तित्व के प्रकार

समाज में जितने भी प्राणी होते हैं उनके व्यक्तित्व में एक–दूसरे से भिन्नता पाई जाती है। यह भिन्नता कम या ज्यादा हो सकती है लेकिन पूर्ण समानता का होना लगभग असम्भव है। वस्तुतः भिन्नता के साथ–साथ किसी स्तर पर समानता भी अवश्य पाई जाती है। इस समानता के आधार पर व्यक्तित्व का वर्गीकरण किया जाता है।

वेदों एवं शास्त्रों में भी व्यक्तित्व के प्रकारों के बारे में वर्णन किया गया है। इनके अनुसार व्यक्तित्व के निम्न प्रकार हैं–

1. **कफ प्रधान** : ये लोग धीमें, निर्बल एवं उत्तेजनाहीन होते हैं।
2. **बात प्रधान** : ये लोग तेज होते हैं तथा प्रसन्न रहते हैं।
3. **पित्त प्रधान** : ये लोग निराशावादी होते हैं।

भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्तित्व के प्रकार अग्रलिखित हैं–

1. सात्विक प्रकृति।
2. राजसी प्रवृति।
3. तामसी प्रकृति।

टिप्पणी

हिप्पोक्रेट्स तथा गालिन ने शारीरिक द्रव्यों के आधार पर व्यक्तित्व के प्रकारों को निम्नलिखित रूपों में वर्गीकृत किया है–

1. **कफ वाले** : ये लोग किसी कार्य को करने में अधिक समय लगाते हैं। इनकी प्रकृति धीमी होती है।
2. **काला पित्त वाले** : ये लोग निराशावादी होते हैं।
3. **पीला पित्त वाले** : ये लोग बहुत जल्दी नाराज हो जाते हैं।
4. **रूधिर पित्त वाले** : ये लोग आशावादी एवं प्रसन्नचित् रहते हैं।

स्पेन्सर ने मनोवैज्ञानिक मूल्यों के आधार पर व्यक्तित्व के निम्नलिखित प्रकार बताये हैं–

1. ज्ञानात्मक।
2. सौन्दर्यात्मक।
3. आर्थिक।
4. धार्मिक।
5. राजनैतिक।
6. सामाजिक।

बरनर ने शारीरिक दृष्टिकोण के आधार पर व्यक्तित्व के निम्न प्रकार बताये हैं–

1. स्वस्थ।
2. विकसित।
3. अपरिपुष्ट।
4. स्नायुविक।
5. अंगरहित।
6. सुस्त तथा पिछड़े।
7. मिर्गीग्रस्त।
8. स्नायु रोगी।

थार्नडाइक ने कल्पना या विचार के आधार पर व्यक्तित्व के निम्न प्रकार बताये हैं–

1. **सूक्ष्म विचारक** : ये गणित तथा कानून में रूचि रखते हैं।
2. **स्थूल विचारक** : ये क्रिया पर विशेष जोर देते हैं।
3. **प्रत्यक्ष विचारक** : ये संख्या, संकेत तथा शब्दों पर विचार प्रस्तुत करते हैं।

शोल्डन ने शारीरिक रचना के आधार पर व्यक्तित्व के अग्रलिखित प्रकार बताये हैं–

1. **कोमल तथा गोल शरीर वाले** : ये कोमल तथा देखने में मोटे होते हैं तथा इनकी पाचनक्रिया अविकसित होती है।
2. **स्वस्थ शरीर वाले** : ये लोग शारीरिक रूप से शक्तिशाली होते हैं।

3. **शक्तिहीन** : ये लोग शक्तिहीन होते हैं, हड्डियां पतली तथा लम्बी होती है लेकिन इन लोगों में उत्तेजना अधिक होती है।

क्रेशनर के अनुसार व्यक्तित्व के निम्न प्रकार हैं–

टिप्पणी

1. **एथलेटिक** : इनके शरीर में बल भरपूर होता है। इनके सीने चौड़े, गोल चेहरा एवं हाथ–पैर लम्बे होते हैं।
2. **अस्थेनिक** : इस प्रकार के व्यक्तियों का हाथ–पैर, चेहरा लम्बा तथा सीना चपटा होता है।
3. **डिस प्लास्टिक** : ऐसे लोग गोल–मटोल, तोंद वाले तथा मोटे होते हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

1. भौतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक एवं शुद्ध अहं : व्यक्तित्व के ये चार सोपान किसने बताए हैं?

   (क) मॉर्टन (ख) जेम्स

   (ग) केम्फ (घ) गजेल

2. भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्तित्व के प्रकार हैं–

   (क) सात्विक (ख) राजसी

   (ग) तामसी (घ) उपरोक्त सभी।

4.3 व्यक्तित्व का मनो–गतिशील सिद्धांत

व्यक्तित्व का मनो–गतिशील सिद्धांत व्यक्तित्व का अध्ययन करने के लिए अत्यंत लोकप्रिय सिद्धांत है। यह सिद्धांत सिगमंड फ्रायड के योगदानों की ऋणी है। फ्रायड एक चिकित्सक थे और उन्होंने अपना सिद्धांत अपने नैदानिक पेशे के दौरान विकसित किया। अपने पेशे के आरंभिक दौर में उन्होंने शारीरिक और सांवेगिक समस्याओं से ग्रस्त लोगों का उपचार सम्मोहन विधि के माध्यम से किया। उन्होंने इस बात पर ध्यान दिया कि उनके अधिकांश रोगी अपनी समस्याओं के बारे में बात करने की आवश्यकता अनुभव करते थे और बात कर लेने के बाद वे प्रायः अपने को अच्छा महसूस करते थे। फ्रायड ने मन के आंतरिक प्रकार्यों को समझने के लिए मुक्त साहचर्य; (एक विधि) जिसमें व्यक्ति अपने मन में आने वाले सभी विचारों, भावनाओं और चिंताओं को मुक्त भाव से व्यक्त करता है, स्वप्न विश्लेषण और त्रुटियों के विश्लेषण सहित उपयोग किया है।

व्यक्तित्व का मनो–गतिशील सिद्धांत कोई एक सिद्धांत नहीं है। यह सिद्धांत कई सिद्धांतों का एक पूंज है, सिगमण्ड फ्रायड प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने व्यक्तित्व का मनो–गतिशील सिद्धांत के रूप में 'मनोविश्लेषणात्मक' सिद्धांत की नींव रखी। इनके बाद अन्य समाज मनोविज्ञानी जिनमें अल्फ्रेड एडलर, कूले, आटो रैंक एवं कार्ल जुंग ने अपने सिद्धांतों के माध्यम से इस व्यक्तित्व के मनो–गतिशील सिद्धांत को आगे बढ़ाया।

अतः इस सिद्धांत के अन्तर्गत हम कई सिद्धांतों का अध्ययन करेगें जो विभिन्न समाज विज्ञानियों ने प्रदान किये हैं।

टिप्पणी

4.3.1 सिगमण्ड फ्रायड का व्यक्तित्व सम्बन्धित 'मनोविश्लेषणात्मक' सिद्धान्त

सिगमण्ड फ्रायड से पहले व्यक्तित्व के चेतन पक्ष पर अधिक ध्यान दिया जाता था। लेकिन फ्रायड ने मनोविश्लेषण–सम्बन्धी नवीन संकल्पनाओं के द्वारा एक ऐसे व्यक्तित्व सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो आधुनिक मनोविज्ञान का शायद सबसे प्रमुख आधार है। आधुनिक मनोविज्ञान में फ्रायड का नाम एक मौलिक विचारक और मनोविश्लेषक के रूप में प्रसिद्ध है। फ्रायड द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त सर्वथा नवीन है, क्योंकि फ्रायड से पहले के विचारकों ने चेतनपन के अध्ययन पर बल दिया था लेकिन फ्रायड ने अचेतनपन को अपने अध्ययन का विषय बनाया।

सिगमण्ड फ्रायड का जन्म 'मोराविया' प्रदेश के एक नगर 'फ्राइबर्ग' में 6 मई, 1856 को एक 'यहूदी' परिवार में हुआ था। जब फ्रायड चार वर्ष के हुए तब वे अपने माता–पिता के साथ 'वियना' चले गये। 1881 में उन्होंने चिकित्साशास्त्र में उपाधि प्राप्त की। 1885 में फ्रायड पेरिस आये तथा प्रो0 'शार्को' के निर्देशन में तंत्रिकाशास्त्र का अध्ययन किया। 'शार्को' सम्मोहन के द्वारा हिस्टीरिया का उपचार करते थे। फ्रायड को यहीं से प्रेरणा प्राप्त हुई। वियना वापस आने पर 'जोजफ ब्रेयर'के सहयोग से चिकित्सा कार्य प्रारम्भ किया। 'ब्रेयर' भी हिस्टीरिया के रोगियों की चिकित्सा सम्मोहन विधि से करते थे तथा रोगियों को आराम भी मिलता था। इन अनुभवो से फ्रायड ने यह निष्कर्ष निकाला कि जो सामान्य रूप से रोगी कहते हैं उस पर विश्वास नहीं करना चाहिए। क्योंकि रोगी मूल कारणों को नहीं जानते। वे कारण अचेतन में रहते हैं। इसी कारण फ्रायड ने अपने सिद्धान्त को मनोविश्लेषण कहा तथा 'मुक्त सहचर्य' उपाय की खोज की।

मुक्त साहचर्य–

मनोविश्लेषण में मुक्त साहचर्य का प्रमुख स्थान है। मुक्त साहचर्य द्वारा रोगी अपने अचेतन मन की बातों को कालान्तर में स्पष्ट करता है और फिर अपने रोग से मुक्त हो जाता है। कोई भी मानसिक रोगी प्रतिरोध के कारण अपने रोग के कारणों को नहीं जान पाता है। साधारणतया व्यक्ति दुःखदायी एवं अवांछनीय बातों को छिपाते हैं। यह विस्मरण दमन, मन द्वारा होता हैं। इस प्रकार प्रतिरोध तथा दमन की प्रक्रियायें चेतन व्यक्ति की नहीं होती है। अर्थात् अचेतन व्यक्ति को ही प्रतिरोध व दमन जैसी प्रक्रियाओं का सामना करना पड़ता है। अचेतन का तात्पर्य है कि व्यक्ति इस प्रक्रिया को चेतन रूप से अनुभव नहीं कर सकता है, फिर भी गतिशीलता रहती है।

सामान्यतः मनोविश्लेषण के तीन अर्थ हैं–

(1) यह एक प्रविधि है। इसके माध्यम से एक व्यक्ति के मानसिक जीवन की चेतन और अचेतन गतिशीलता की खोज की जाती है।

(2) मनोविश्लेषण एक प्रकार की मनोचिकित्सा है जिसके माध्यम से मनस्ताप, मनोविक्षिप्तता या मनोविकृति के रोगियों का पुनःनिर्माण या उपचार इस प्रकार

किया जाता है कि वह जीवन की समस्याओं की सेहत के प्रति बेहतर और सुखी समायोजन कर सके।

(3) मनोविज्ञान में मनोविश्लेषण एक सम्प्रदाय है। मनोविश्लेषण को चाहे सम्प्रदाय के रूप में लिया जाय चाहे चिकित्सा पद्धति या प्रविधि के रूप में प्रयोग किया जाये; सभी क्षेत्रों में फ्रायड का प्रारम्भिक और प्रमुख योगदान है। फ्रायड मनोविश्लेषण सम्प्रदाय के संस्थापक हैं। मनोविश्लेषण चिकित्सा पद्धति के 'जनक' हैं तथा मनोविश्लेषण प्रविधि के प्रतिपादक हैं।

टिप्पणी

मनोविश्लेषण के अंग

क. व्यक्तित्व का संगठन

फ्रायड के अनुसार व्यक्तित्व के संगठन में इदम्, अहम् और पराहम् का प्रमुख स्थान है।

(अ) इदम् : फ्रायड के अनुसार यह मानसिक जगत या आन्तरिक जगत का प्रतिनिधित्व करता है। इसीलिए 'इदम' को फ्रायड ने' वास्तविक मानसिक सत्यता' कहा है। अहम् और पराहम् के विकास का आधार 'इदम्' ही है। इदम् सुखवाद सिद्धान्त से संचालित होता है।

इदम् की उपत्ति : जन्म के समय शरीर की संरचना में जो कुछ भी निहित होता है वह पूर्णतः इदम् ही होता है। दूसरे अर्थों मे जन्म के समय मानव शिशु का मन पूण्र रूपेण 'इदम्' होता है। अतः इदम् जन्मजात और वंशानुगत है। इसे फ्रायड ने असंख्य पूर्वजों के स्मृति अवशेषों का भण्डार माना है।

इदम् की विषय सामग्री : तात्कालिक संतुष्टि हेतु इच्छाएं और विचार ही इदम् की प्रमुख विषय–सामग्री है। इदम् की इच्छाओं और विचारों का सम्बन्ध आत्मगत वास्तविकता से होता है। वातावरण की वास्तविकता से 'इदम्' का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है। इदम् का नैतिकता, तार्किकता, समय, स्थान और मूल्यों आदि से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। इदम् व्यक्तित्व का अपेक्षाकृत अधिक चलायमान पक्ष है।

इदम् के कार्य : इसका मुख्य कार्य शारीरिक इच्छाओं की संस्तुष्टि है। यह किसी भी प्रकार के तनाव से तात्कालिक छुटकारा पाना चाहता है। सुख की प्राप्ति और दुःख के निवारण हेतु इदम् के दो प्रकार के कार्य हैं–

(1) सहज क्रियायें : ये क्रियायें जन्मजात तथा स्वचालित होती हैं; जैसे छींकना और पलक झपकना आदि। सभी व्यक्ति सहज क्रियाओं की पूर्ति के बाद सन्तोष का अनुभव करते हैं।

(2) प्राथमिक क्रियायें : तनाव भगाने के लिए प्राथमिक क्रियायें व्यक्ति के सामने पदार्थ की प्रतिमा निर्मित करती हैं। जैसे, एक प्यासे व्यक्ति के सामने पानी की प्रतिमा प्रस्तुत कर उसकी प्यास की संतुष्टि का यत्न करना।

(ब) अहम् : फ्रायड का 'अहम्' से आशय 'आत्म' या चेतन बुद्धि से है। इसका सम्बन्ध एक ओर वाह्य वास्तविकता से होता है तो दूसरी तरफ इदम् से होता है। यह व्यक्ति की इच्छाओं की संतुष्टि सामाजिक और भौतिक वास्तविकता के सन्दर्भ में करता है। यह इदम् की इच्छाओं और भौतिक जगत की वास्तविकताओं के मध्य समायोजनकर्ता का भी कार्य करता है।

टिप्पणी

अहम् की उत्पत्ति : अहम्, इदम् का ही एक विशिष्ट अंश है जो वाह्य वातावरण के प्रभाव के कारण विकसित होता है। चूँकि इदम् वंशानुगत होता है, अतः वंशानुगत पदार्थों पर वातावरण के प्रभावों के परिणामस्वरूप अहम् का विकास होता है।

अहम् की विषय सामग्री : वाह्य वातावरण का एकत्रित ज्ञान ही अहम् की विषय सामग्री है।

अहम् के कार्य : यह तर्कसंगत होता है तथा इसको परिस्थितियों के बारे में ज्ञान रहता है। इसका प्रमुख कार्य वाह्य वातावरण के खतरों से जीवन की रक्षा करना है। यह उद्देश्यों की पूर्ति वास्तविकता के नियम के आधार पर करता है। संक्षेप में इसके कार्य अग्रलिखित हैं–

1. पोषण सम्बन्धी शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति करना।
2. शरीर की सुरक्षा की आवश्यकता की पूर्ति करना।
3. वाह्य वातावरण की वास्तविकताओं के अनुसार इदम् के आवेगों को अभिव्यक्त करना।
4. इदम् और पराहम् की विरोधी इच्छाओं में समायोजन स्थापित करना।
5. नींद की अवस्था में भी यह स्वप्नों पर सेन्सरशिप बनाये रखता है।
6. बाधा या चिन्ता के उपस्थित होने पर व्यक्ति की उपयुक्तता की रक्षा करना।

(स) पराहम् : व्यक्तित्व का यह अंश सबसे बाद में विकसित होता है। यह व्यक्तित्व का नैतिक पक्ष है। यह वह मुख्य शक्ति है जो व्यक्ति का समाजीकरण करती है।

पराहम् की उत्पत्ति : समाजीकरण प्रक्रिया में ही, बाल्यावस्था की स्थिति में पराहम् का विकास अहम् से होता है। वास्तव में यह अहम् का ही एक विशिष्ट विकसित रूप है। पराहम् के विकास में तादात्मय और अन्तर्निवेश की मानसिक मनोरचनायें सहायक होती हैं। इसके दो पक्ष होते हैं–

1. आदर्श अहम 2. अन्तरात्मा

आदर्श अहम्, पराहम् का धनात्मक पक्ष है जिसमें समाज और संरक्षकों से सीखी गयी बातें या गुण सम्मिलित होते हैं। आदर्श अहम् के द्वारा व्यक्ति यह सीखता है कि समाज में क्या उचित है।

'अन्तरात्मा' पराहम् का ऋणात्मक पक्ष है जिसमें संरक्षक और समाज जिन बातों को बुरा समझते हैं, वह अवगुण सम्मिलित होते हैं। अन्तरात्मा द्वारा व्यक्ति यह सीखता है कि समाज में क्या अनुचित है, उसके संरक्षक किन बातों को अनुचित समझते हैं, आदि। जब कोई व्यक्ति समाज के आदर्शों और मूल्यों के विपरीत कार्य करता है तो अन्तरात्मा के कारण उसमें चिन्ता और अपराध भावना उत्पन्न हो सकती है।

पराहम् के कार्य :

पराहम् के अग्रलिखित कार्य हैं–

1. इदम् के अनैतिक, असामाजिक और कामुक आवेगों पर नियंत्रण करना।
2. अहम् के आवेगों को नैतिक और सामाजिक लक्ष्यों की ओर ले जाने का प्रयास करना।
3. पूर्ण सामाजिक और आदर्श प्राणी बनाने हेतु प्रयास करना।

ख. व्यक्तित्व की गतिशीलता

टिप्पणी

व्यक्तित्व की गतिशीलता में अहम् तथा पराहम् तंत्र परस्पर निम्न प्रकार से क्रिया–प्रतिक्रिया करते हैं–

1. **मनः ऊर्जा** : ऊर्जा का प्रमुख स्रोत भोजन है। ऊर्जा का वह रूप जो व्यक्ति के तीनों अंगों में क्रियाशील होता है, उसे मनःऊर्जा कहते हैं। यह सक्रीयता चिंतन, प्रत्यक्ष बोध तथा स्मरण आदि करती है।

2. **मूल प्रवृत्तियां** : यह एक ऐसी साधारण अवस्था है, जो मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को दिशा–ज्ञान का बोध कराती है। यह, काम प्रवृत्ति, प्रत्यक्षबोध, स्मरण तथा चिन्तन आदि, विभिन्न प्रक्रियाओं को काम में सिद्धि के लिए परिचालित करती है। फ्रायड ने दो मूल प्रवृत्तियां माना है, प्रथम–काम सम्बन्धी प्रवृति तथा दूसरी मृत्युवृत्ति। वास्तव में व्यक्ति व्यवहार नहीं मूल प्रवृत्तियों से संचालित होता है।

3. **मनःऊर्जा का विभाजन**

   इदम ऊर्जा का स्रोत है तथा इसका उपयोग इच्छापूर्ति के द्वारा मूल प्रवृत्तियों की संतुष्टि के लिए होता है। भोजन करने, पेशाब करने तथा काम सुख जैसी क्रियाओं में ऊर्जा का विसर्जन होता है। पहले प्रतिविम्ब बनता है तथा अहम् की सहायता से संस्तुष्टि होती है। जब अहम् कमजोर होता है तो ऊर्जा प्रत्यक्ष रूप से प्रवाहित होती है और व्यक्ति पर नियंत्रण कमजोर हो जाता हैं।

   अहम की ऊर्जा नहीं होती है। विवेक, स्मरण, निर्णय, चिन्तन आदि द्वारा यह कार्य करता है। तनाव से छुटकारा पाने के लिए अहम् की आवश्यकता होती है। ऊर्जा का इदम् से संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं में आ जाना अहम् के विकास का प्रथम चरण है।

   पराहम् का निर्माण दण्ड तथ पुरस्कार से होता है।

व्यक्तित्व का मनः स्थलीय विभाजन

मनोविश्लेषण के प्रारम्भिक समय में सिगमण्ड फ्रायड ने व्यक्तित्व अथवा मन के तीन प्रकार बताये थे जिनमें, चेतन, अर्ध–चेतन तथा अचेतन सम्मिलित हैं। इनकी व्याख्या अग्रलिखित है–

(अ) चेतन : फ्रायड के अुनसार 'चेतन मन, मन का वह भाग है जिसका सम्बन्ध तुरन्त ज्ञान से होता है।' वास्तव मे चेतन का आशय ज्ञान से है। यदि कोई व्यक्ति लिख रहा है तो उसमें लिखने की चेतना है। व्यक्ति जिन शारीरिक और मानसिक क्रियाओं के प्रति जागरूक होता है वह चेतन पर घटित होती हैं। मन का केवल 1/8वां भाग चेतन है। इसमें सभी बातें व घटनायें याद रहती हैं। यह व्यक्ति, वस्तुओं, तिथियों, नामों, परिस्थितियों को बिना किसी रूकावट के जान लेता है।

(ब) अर्ध–चेतन : फ्रायड के अनुसार 'यह मन का वह भाग है जिसका सम्बन्ध ऐसी विषय–सामग्री से होता है जिसे व्यक्ति इच्छानुसार कभी भी याद कर सकता है।' इस भाग में यह विचार आते हैं जिनका व्यक्ति को तात्कालिक ज्ञान नहीं होता है। अन्तर्निरीक्षण की क्रिया द्वारा उनका ज्ञान सम्भव हो जाता है।

टिप्पणी

(स) अचेतन : फ्रायड के अनुसार 'अचेतन मन, मन का वह भाग है जिसमें ऐसी विषय–सामग्री होती है जिसे व्यक्ति इच्छानुसार याद करके चेतना में लाना चाहे तो भी नहीं ला सकता है।' अचेतन मन, मन का सबसे बड़ा भाग है, इसमें दो प्रकार की इच्छायें रहती हैं–

(1) वे जो कभी चेतन थी तथा वाद में अचेतन में चली गयी हैं।

(2) वे विचार व इच्छायें जिनको व्यक्ति अपनी इच्छानुसार व्यक्त नहीं कर सकता है।

ग. व्यक्तित्व का विकास

व्यक्तित्व का विकास तनाव के चार प्रमुख स्रोतों पर आधारित होता है–

(अ) शारीरिक विकास प्रक्रिया

(ब) नैराश्य

(स) मानसिक संघर्ष

(द) संघर्ष

(अ) शारीरिक विकास प्रक्रिया : व्यक्ति को शारीरिक विकास के प्रत्येक स्तर पर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अतः व्यक्ति इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए विभिन्न तरीकों को सीखता है तथा अपने में नये गुणों एवं प्रविधियों का विकास करता है। व्यक्तित्व का विकास शारीरिक विकास पर आधारित होता है। अतः शारीरिक रूप से कभी व्यक्तित्व में कमी उत्पन्न कर देती है और व्यक्ति हीनता का शिकार हो जाता है।

(ब) नैराश्य : व्यक्ति को इच्छाओं की संतुष्टि हेतु अनेक कारकों से संघर्ष करना पड़ता है। किसी न किसी प्रेरणा की तुष्टि में प्रत्येक व्यक्ति को निराशा का अनुभव करना पड़ता है। निराशा की मानसिक स्थिति के निम्नलिखित मुख्य चिन्ह हैं– (1) हीन भावना (2) तनाव की अधिकता(3) विभिन्न मनोरचनाओं का उपयोग (4) असंतोष

निराशा के परिणामस्वरूप निम्न प्रतिक्रियायें स्पष्ट होती हैं जो व्यक्तित्व का विकास करती हैं–(1) आक्रामक व्यवहार (2) संवेगात्मक तनाव (3) प्रयत्नों में वृद्धि (4) विधियों में परिवर्तन (5) लक्ष्य में परिवर्तन (6) मनोरचना।

(स) मानसिक संघर्ष : कभी–कभी व्यक्ति के मन में एक ही समय में एक से अधिक प्रेरणायें उत्पन्न हो जाती हैं, जिसके फलस्वरूप उसके मन में द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है एवं तनाव बढ़ जाता है। इस द्वन्द्व के कारण वह अपने में परिवर्तन लाता है।

(द) संघर्ष : जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सीधे संघर्ष के दौरान व्यक्ति को धमकियों का सामना करना पड़ता है। वह प्रत्येक धमकी का उत्तर देना सीखता है। इस प्रकार उसमें स्वतः परिवर्तन आते रहते हैं।

नैराश्य, संघर्ष तथा धमकियों से उत्पन्न तनाव को दूर करने के लिए व्यक्ति को कुछ तरीके सीखने होते हैं। इस प्रकार का सीखना ही व्यक्तित्व का विकास होता

है। आत्मीकरण तथा विस्थापन उसके दो तरीके हैं जिनके द्वारा नैराश्य, चिन्ता तथा संघर्ष को दूर करना व्यक्ति सीखता है।

टिप्पणी

आत्मीकरण : आत्मीकरण वह तरीका है जिसके द्वारा व्यक्ति दूसरे के गुणों को अपना लेता है एवं उन गुणों को अपने व्यक्तित्व में ग्रहण कर लेता है। वह अपने व्यवहार को दूसरों के समान बनाता है क्योंकि ऐसा करने से उसकी चिन्ता समाप्त होती है। यह प्रक्रिया जीवन पर्यन्त चलती रहती है, क्योंकि इससे विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति होती है।

विस्थापन : यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा ऊर्जा एक विषय से दूसरे विषय पर प्रवाहित की जाती है।

व्यक्तित्व का विकास अधिकतम सीमा तक विषय परिवर्तन तथ मनःऊर्जा के विस्थापन के क्रम द्वारा सम्भव होता है। मूल प्रवृति का स्रोत तथा लक्ष्य वही रहता है परन्तु ऊर्जा का विस्थापन हो जाता है। लक्ष्य–विषय, मात्र बदलता रहता है।

मनोलैगिंक विकास के स्तर :

फ्रायड सम्भवतः पहले मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तवादी हैं जिन्होंने व्यक्तित्व विकास की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। व्यक्ति विकास में फ्रायड ने बाल्यावस्था के प्रारम्भ के कुछ वर्षों को अधिक महत्व प्रदान किया है। उनका सिद्धान्त केवल वयस्कों के मनोविश्लेषण पर ही आधारित नहीं है। बाल्यावस्था के मानव–सम्बन्धों के निरीक्षण पर भी यह आधारित है। फ्रायड ने व्यक्तित्व विकास का वर्णन पांच अवस्थाओं की सहायता से किया है। यह अवस्थायें एक–दूसरे से सापेक्षिक रूप से भिन्न हैं लेकिन एक–दूसरे को अस्थायी रूप से अधिग्रहीत करती हैं। ये अवस्थायें अग्रलिखित हैं–

(1) मौखिक अवस्था

(2) गुदा अवस्था

(3) शिश्नावस्था या लैंगिक अवस्था

(4) सुप्तावस्था या अव्यक्त अवस्था

(5) जनेन्द्रिय अवस्था

(1) मौखिक अवस्था : यह अवस्था जन्म से लेकर 18 माह तक रहती है। इस अवस्था को मौखिक अवस्था इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसमें यौन–तृप्टि का केन्द्र मुख (मुंह) होता है। नवजात शिशु का मन पूर्णरूपेण अचेतन और इदम् से पूर्ण होता है। इस अवस्था में चूसना पोषण का एक साधन ही नहीं होता है बल्कि यह एक सुखद अनुभूति भी होती है। यही कारण है कि पेट भर जाने के बाद भी बच्चा स्तनपान करता रहता है। इस अवस्था को दो भागों में बाँटा गया है। (अ) मौखिक चूषण काल (ब) मौखिक दंशन (काटना) अवस्था।

(अ) मौखिक चूषण काल या अवस्था : इस अवस्था की अवधि जन्म से लेकर 8 माह तक होती है। इसमें बालक स्तनपान के द्वारा सुख की अनुभूति करता है। फ्रायड के अनुसार बालक की काम शक्ति (लिबिडो) की संतुष्टि मुख, होठ, जीभ, के द्वारा चूसने से अथवा निगलने की क्रिया से होती है।

टिप्पणी

(ब) मौखिक दंशन या काटने की अवस्था : इसकी अवधि 6 माह से लेकर 18 माह तक की होती है। इस अवस्था में बालक के लिबिडो का क्षेत्र दाँत और जबड़े होते हैं। इस अवस्था में बालक को आनन्द की अनुभूति तीन प्रकार से होती है–काटने के द्वारा, चूसने के द्वारा तथा निगलने के द्वारा।

(2) गुदा अवस्था : इस अवस्था की अवधि 8 माह से चार वर्ष तक की होती है। इस अवस्था के बालक को कामुक सुख का अनुभव मल विसर्जन प्रक्रिया से प्राप्त होता है। इस अवस्था को दो भागों में बांटा गया है– (अ) गुदा की त्यागात्मक अवस्था (ब) गुदा की धारणात्मक अवस्था।

(अ) गुदा की त्यागात्मक अवस्था : इसकी अवधि 8 माह से तीन वर्ष तक की होती है। कामुक सुख की प्राप्ति मलमूत्र निष्कासन से होती है। बालक को अनेक निर्देश दिये जाते हैं। प्रातः काल मल–मूत्र निष्कासन पर जोर देने से आदत का विकास होता है। कइ बार बालकों को जहाँ मलमूत्र त्याग के लिए मना होता है वहीं पर वह मलमूत्र की क्रिया करके अपनी आक्रमकता की अभिव्यक्ति करते हैं।

(ब) गुदा की धारणात्मक अवस्था : यह अवस्था एक वर्ष से चार वर्ष तक की होती है। इस अवस्था मे बालक को मलमूत्र रोकने में आनन्द की अनुभूति होती है। इस अवस्था में वातारण की वास्तविकता और सामाजिक प्रतिबन्धों का ज्ञान होने लगता है और इस ज्ञान के साथ–साथ उसमें 'पराहम्' का विकास होने लगता है।

(3) शिश्नावस्था या लैंगिक अवस्था : इस अवस्था की अवधि तीन से सात वर्ष तक होती है। इसमें बालक जनेन्द्रियों से सम्बन्धित ज्ञान प्राप्त कर लेता है तथा लिंग भेद का अर्थ समझने लगता है। इसमें मातृमनोग्रंथि तथा पितृमनोग्रंथि का विकास होता है।

(4) सुप्तावस्था या अव्यक्त अवस्था : इसकी अवधि 5 वर्ष से 12 वर्ष तक होती है। इसमें बालक शैशव कामुकता का सामाजिक अर्थ समझने लगता है। इसके कारण उसको दमित करना प्रारम्भ कर देता है। वह वाह्य विषयों के बारे में ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करता है। उसमें 'पराहम्' का विकास होता है। सामाजिक गुण आने लगते हैं।

(5) जनेन्द्रिय अवस्था : इस अवस्था की अवधि 12 वर्ष से 20 वर्ष तक होती है। इसमें पुनः लैंगिकता बढ़ती है। विषय–लिंगी एक–दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं तथा आकर्षण के लिए अनेक प्रेरकों को अचेतन में डालने का प्रयत्न करते हैं। परिणामस्वरूप रचनात्मक कार्य सम्भव होते हैं।

4.3.2 अल्फ्रेड एडलर का सिद्धांत

अल्फ्रेड एडलर का जन्म आस्ट्रिया देश के वियना शहर में सन् 1870 में हुआ था। इन्होंने नेत्र चिकित्सा में विशेष योग्यता हासिल किया था। कुछ समय बाद वे सामान्य चिकित्सक बन गये थे। सन् 1935 में अल्फ्रेड एडलर अमेरिका के निवासी हो गये। इन्होंने 1911 में 'Individual Psychology' की स्थापना की। 'Individual' शब्द

टिप्पणी

लैटिन भाषा से लिया गया है जिसका अर्थ 'अभाज्य' होता है। अमेरिका में रहते हुए अल्फ्रेड एडलर ने मनोचिकित्सा का कार्य जारी रखा। इसी अवधि में इन्होंने लांग आइलैण्ड कालेज ऑफ मेडिसिन में विज्ञान आचार्य के पद के रूप में अध्यापन कार्य शुरू किया। इसी समय इनको व्यक्तिगत मनोविज्ञान संबंधी शोध कार्य करने का पर्याप्त अवसर मिला। सन् 1937 में जब वे स्काटलैण्ड के अवरडीन नगर में भाषण देने के लिए गये तो वहीं उनकी अचानक मृत्यु हो गयी। जब उनकी मृत्यु हुई उस समय उनकी आयु 67 वर्ष थी।

अल्फ्रेड एडलर के व्यक्तिगत सिद्धांत को समझने के लिए आवश्यक है कि मानव व्यवहार संबंधी स्थापनाओं के बारे में जानकारी कर ली जाये। हाल तथा लिंडजे ने एडलर के व्यक्तिगत सिद्धांत की व्याख्या के संदर्भ में उसकी निम्नलिखित 6 मूल स्थापनाओं का वर्णन किया है–

1. कथात्मक अंत।
2. श्रेष्ठता के लिए प्रयास।
3. हीनता की भावना और प्रतिपूर्ति।
4. सामाजिक अभिरूचि।
5. जीवन शैली।
6. सृजनात्मक स्व या आत्म।

हाल तथा लिंडजे की उपरोक्त मूल स्थापनाओं या संकल्पनाओं पर विचार किया जाय तो एडलर के व्यक्तित्व सिद्धांत के बारे में समुचित ज्ञान प्राप्त हो सकता है। लैण्डफोर्ड बिस्काफ ने मानव व्यवहार की व्याख्या के लिए एडलर की संकल्पनाओं या सिद्धांतों का उल्लेख किया है, जो अग्रलिखित हैं–

1. हीनता।
2. श्रेष्ठता।
3. जीवन की शैली।
4. सृजनात्मक स्व या आत्म।
5. चेतन स्व या आत्म।
6. कथात्मक लक्ष्य।
7. सामाजिक अभिरुचि।

इस प्रकार विभिन्न सामाजिक मनोवैज्ञानिकों ने एडलर के व्यक्तिगत सिद्धांतों की व्याख्या अपने मतानुसार करने का प्रयास किया। एडलर ने अपने व्यक्तिगत सिद्धांतों को निम्न बिन्दुओं के माध्यम से समझाने का प्रयास किया है–

1. व्यक्तित्व की संरचना।
2. हीनता की भावना।

(अ) सामाजिक हीनता।

(ब) आंगिक हीनता।

टिप्पणी

3. महत्ता का नियम।

4. पुंस्पृहा।

5. प्रतिष्ठा संघर्ष।

6. जीवन शैली।

7. सृजनात्मक आत्म या स्व।

उपरोक्त बिन्दुओं की व्याख्या अग्रलिखित है–

1. व्यक्तित्व की संरचना : एडलर का विचार है कि प्राणी की प्रेरणा शक्ति का प्रमुख स्रोत 'Libido' (फ्रायड द्वारा वर्णित अवधारणा) नहीं है बल्कि शक्ति प्राप्ति की इच्छा (Will to Power) है। एडलर के अनुसार व्यक्ति कामुक न होकर सामाजिक है। इसी कारण एडलर ने सेक्स के स्थान पर सामाजिक रूचियों को महत्व प्रदान किया है तथा मूल प्रवृत्तियों के स्थान पर सामाजिक चालनाओं (Social Urges) को महत्व प्रदान किया है।

एडलर के अनुसार जीवन की प्रमुख समस्या सामाजिक समायोजन है। प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक, आर्थिक तथा सेक्स के क्षेत्र में उन्नत बनना चाहता है। यह उन्नति उसके समायोजन पर निर्भर करती है, जो शक्ति की इच्छा से निर्धारित होती है। व्यक्ति का जिस प्रकार का समायोजन होगा वैसी ही उसकी आर्थिक प्रगति व सेक्स जीवन होगा। एडलर का मानना है कि सामाजिक यथार्थता तथा शक्ति की इच्छा के मध्य संघर्ष के परिणामस्वरूप ही व्यक्तित्व का विकास होता है तथा यही संघर्ष व्यक्तित्व की सामान्यता और असामान्यता को भी निर्धारित करता है।

2. हीनता की भावना : एडलर के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में हीनता की भावना कुछ न कुछ मात्रा में अवश्य पायी जाती है। यह हीन भावना जीवन के किसी भी पहलू से संबंधित हो सकती है। नवजात बालक को संसार में सब कुछ अपने आप से बड़ा, बेहतर और अधिक शक्तिशाली दिखाई पड़ता है। यह हीन भावना बालक को क्षतिपूर्ति करने के लिए प्रभावित करती है। जैसे–जैसे बालक क्षतिपूर्ति करता है व्यक्तित्व विकास होता जाता है। हीनता की भावना दो प्रकार की होती है–

(अ) सामाजिक हीनता : इस हीनता का सबसे बड़ा स्रोत समाज ही है। समाज में व्यक्ति अपनी तुलना या स्पर्धा जब अन्य सदस्यों से करता है तो वह समाज में उच्च स्थान प्राप्त करना चाहता है लेकिन स्थान सीमित होने के कारण हमेशा उच्च स्थान प्राप्त नहीं कर पाता है और वह इस अवस्था में हीन भावनाओं से ग्रसित हो जाता है।

(ब) आंगिक हीनता : आंगिक हीनता की भावना का विकास शैशवावस्था में ही शुरू हो जाता है। बालक अपने को माता–पिता की अपेक्षा छोटा महसूस करने लगता है। जैसे, जननेन्द्रीय संबंधी ईर्ष्या का उत्पन्न होना। जब लड़कियां, लड़कों जैसीं अपने में जननेन्द्रीय नहीं महसूस करती हैं तो उनमें आंगिक हीनता की भावना उत्पन्न हो जाती है।

हीनता की भावना को आंशिक या पूर्ण रूप से समाप्त करना ही क्षतिपूर्ति है।

टिप्पणी

3. महत्ता नियम : हीनता भावना का ही यह नियम एक भाग है। एडलर के अनुसार महत्ता का अर्थ 'Superiority Overself' है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा कुछ न कुछ अनोखा होता है फिर भी महत्ता का अर्थ यह नहीं है कि एक व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा अधिक प्रतिभाशाली है।

4. पुंस्पृहा या मस्क्युलिन प्रोटेस्ट : हीनता की भावना से पुंस्पृहा भी संबंधित है। इसका आशय यह है कि जीवन की कठिनाइयों का पौरुषपूर्ण ढ़ंग से सामना करना। प्रत्येक स्त्री–पुरुष हीन भावना से ग्रसित होकर पुंस्पृहा प्रवृत्ति को अपनाता है। एडलर ने बाद में इस नियम को त्यागकर 'Strive for Prestige' नियम प्रतिपादित किया।

5. प्रतिष्ठा संघर्ष : एडलर ने पुंस्पृहा को मुख्य अभिप्रेरण शक्ति के रूप में स्वीकार किया तथा बाद में पुंस्पृहा के स्थान पर प्रतिष्ठा संघर्ष को स्वीकार किया। व्यक्ति प्रतिष्ठा संघर्ष तीन क्षेत्रों में करता है–

- **सामाजिक प्रतिष्ठा** : समाज में विशिष्ठ स्थान प्राप्त करने के लिए व्यक्ति मित्रता तथा क्लब आदि का सदस्य बनता है।
- **आर्थिक प्रतिष्ठा** : इसके लिए व्यक्ति किसी एक व्यवसाय को चुनकर उसमें अभूतपूर्व सफलता प्राप्त करता है तथा अधिक धन एकत्रित करता है।
- **कामुक प्रतिष्ठा** : ऐसा व्यक्ति प्रेम वासना से प्रेरित रहता है। ऐसे लोग शीघ्र जीवन साथी चुनकर अपना घर बसाते हैं।

6. जीवन शैली : जीवन के प्रति व्यक्ति का विशिष्ट दृष्टिकोण ही उसकी जीवन शैली है। एडलर का विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति सम्भवतः पांच वर्ष की ही अवस्था में अपने लक्ष्यों को निर्धारित कर लेता है। जीवन शैली मुख्यतः दो कारकों का संयुक्त परिणाम है–

- व्यक्ति के व्यवहार को दिशा प्रदान करने वाले आंतरिक अंतर्नोद।
- व्यक्ति के व्यवहार को निर्धारित करने वाले वातावरण से संबंधित कारक।

  व्यक्ति का प्रारम्भिक वातावरण, हीनता की भावना तथा परिवार की रूपरेखा आदि कुछ अन्य कारक भी जीवन शैली को महत्वपूर्ण ढ़ंग से प्रभावित करते हैं।

7. सृजनात्मक आत्म : एडलर मानते हैं कि जीवन का अमूर्त तत्व सृजनात्मक आत्म है। सृजनात्मक आत्म का अर्थ है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का सृजन स्वयं करता है। सृजनात्मक आत्म का विकास वंशानुक्रम और वातावरण के अनुभवों के आधार पर होता है।

एडलर के अनुसार व्यक्ति में विशिष्टता पाई जाती है, जो अत्यंत महत्वपूर्ण है। व्यक्ति अपने लक्ष्य के कारण दूसरों से विशिष्ट होता है। जिस प्रकार का व्यक्ति अपना लक्ष्य निर्धारित करता है, उसके व्यक्तित्व में उसी प्रकार के गुण विकसित हो जाते हैं। व्यक्ति को अपने विषय में और उस जगत के बारे में जिसमें वह निवास करता है, क्या विचार हैं, इसका भी व्यक्तित्व के विकास और एकत्व की दृष्टि से अत्यधिक महत्व है। व्यक्ति स्वयं अपने जगत का निर्माता है। जिस व्यक्ति के अनुभव बचपन में सुखद एवं आनंददायक होते हैं उसके विचार समाज के प्रति सुख और आनंद प्रदान करने वाले होते हैं।

एडलर का विचार था कि प्रत्येक प्राणी में गति की क्षमता आत्मा की उपस्थिति के कारण होती है। जब आत्मा शरीर का परित्याग कर देती है तो व्यक्ति निर्जीव हो जाता है। अतः व्यक्ति का जीवन उसकी आत्मा से जुड़ा हुआ है।

टिप्पणी

4.3.3 कूले का व्यक्तित्व सम्बन्धी सिद्धान्त

कूले एक अमेरिकन समाजशास्त्री थे, जिन्होंने 'ह्यूमन नेचर एण्ड दी सोशल आर्डर' नामक किताब लिखी। कूले ने अपनी इस किताब में 'स्व' के विकास सम्बन्धी सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। कूले द्वारा प्रदत्त सिद्धान्त को 'आत्मदर्पण दर्शन सिद्धान्त' के नाम से भी जाना जाता है।

कूले ने अपने सिद्धान्त को व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को स्पष्ट करने के लिए प्रतिपादित किया। उनका मानना था कि व्यक्ति और समाज को एक–दूसरे से अलग करके उनके बारे में वैज्ञानिक विवेचन नहीं किया जा सकता। समाज के सम्पर्क में आने पर ही व्यक्ति के 'आत्म' का विकास होता है। समाज व्यक्ति के लिए दर्पण का कार्य करता है, वह उसमें अपनी परछाई को देखता है। समाज के लोग उसके बारे में क्या कहते हैं, इसी आधार पर वह अपने बारे में अपनी धारणा बनाता है। जिस प्रकार हम दर्पण देखकर यह ज्ञात करते हैं कि हम अमूक कपड़े पहनने के बाद कैसे लगते हैं, बाल ठीक से संवारे हुए हैं या नहीं, मेकअप कैसा लग रहा है, इत्यादि, उसी प्रकार से व्यक्ति भी समाज रूपी आइने में अपने आपको देखता है। समाज के लोग उसके बारे में क्या कहते हैं, इसी आधार पर वह अपने बारे में राय बनाता है। इस राय के आधार पर ही उसमें हीनता या श्रेष्ठता के भाव पैदा होते हैं। जैसे, जब परिवार के सदस्य, मित्र या अन्य लोग उसके बारे में यह कहते हैं कि वह बुद्धिमान है, लम्बा है, शक्तिशाली है, आकर्षक है या गन्दा, मूर्ख, कमजोर, ठिगना, लड़ाकू, जोशीला है तो व्यक्ति भी अपने बारे में वैसा ही सोचने लगता है। इस प्रकार अपने बारे में दूसरों की प्रतिक्रिया से ही व्यक्ति के 'स्व' का निर्माण होता है। इसी कारण कूले इसे 'आत्म दर्पण दर्शन' कहते हैं।

कूले ने 'आत्म दर्पण दर्शन' प्रक्रिया के तीन चरणों का उल्लेख किया है–

(1) व्यक्ति यह सोचता है कि दूसरे उनके बारे में क्या सोचते है।

(2) दूसरों के निर्णय के आधार पर वह स्वयं अपने बारे में क्या सोचता है।

(3) मैं अपने बारे में सोचकर अपने को कैसा मानता हूँ, अर्थात् गर्व अनुभव करता हूँ या ग्लानि।

इन तीनों बातों को स्पष्ट करने हेतु 'हारटन व हण्ट' ने एक उदाहरण दिया है। मान लिजिए आप एक कमरे में प्रवेश करते हैं जहां कुछ व्यक्ति एक समूह में परस्पर बाते कर रहे हैं। आपके जाते ही वे बहाना बनाकर वहाँ से चले जाते हैं और ऐसा कई बार होता है तो आपको अपने बारे में हीनता की भावना महसूस होगी। इसके विपरीत आपके कमरे में प्रवेश करने पर सभी व्यक्ति आपको घेर लेते हैं और आपसे विचार–विमर्श करना चाहते हैं, तो आपको गर्व महसूस होगा। इस प्रकार दूसरे व्यक्ति हमारे प्रति जिस प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त करते है, हम अपने बारे में वैसी धारणा

बनाते हैं। इसको हम एक दूसरे उदाहरण से भी समझ सकते हैं। हम किसी स्त्री को बार–बार यह कहें कि तुम बहुत सुन्दर हो तो वह अपने आपको सुन्दर महसूस करने लगेगी और वैसा ही व्यवहार करने लगेगी। इसी प्रकार से यदि किसी महिला को बार–बार यह कहा जाय कि तुम कुरूप हो तो उसमें वैसे ही विचार घर कर जायेंगे।

टिप्पणी

अतः दूसरों के द्वारा व्यक्त प्रतिक्रिया के आधार पर ही व्यक्ति अपने आपको सुन्दर–असुन्दर मिलनसार–झगड़ालू, मूर्ख–बुद्धिमान तथा श्रेष्ठ–हीन समझने लगता है। बचपन में व्यक्ति अपने बारे में जिस प्रकार की धारणा ग्रहण कर लेता है, वह जीवनभर बनी रहती है और बाद में बहुत प्रयत्न से ही परिवर्तित होती है।

कई बार ऐसा भी होता है कि दूसरे हमारे बारे में जो राय बनाते हैं, उसे जिस रूप में हम सोचते हैं, उसमें तथा वास्तव में दूसरों द्वारा हमारे प्रति बनायी गयी धारणा में अन्तर होता है। कई बार हम दूसरों द्वारा हमारे बारे में बनायी गयी धारणा को गलत समझ लेते हैं। अक्सर हम अपने बारे में दूसरों की वैसी ही धारणा कर लेते हैं, जो उस समूह के प्रति हमारे मन में होती है। अतः कभी–कभी 'स्व' निर्माण गलत धारणा पर भी निर्भर होता है। उदाहरण के लिए, हमारा अपने मित्रों के प्रति अधिक स्नेह होता है, हमारे मित्र कभी हमारी प्रशंसा करते हैं तो हम यह सोचने लगते हैं कि हम प्रशंसा के योग्य हैं, जबकि वास्तविकता यह होती हे कि हमारे मित्र हमें इतना योग्य नहीं समझते। इस प्रकार हमारे द्वारा अपने बारे में मित्रों की प्रशंसा के आधार पर बनायी गयी धारण त्रुटिपूर्ण है।

इस प्रकार कूले के अनुसार व्यक्ति का दूसरों से सम्पक्र होने से ही 'स्व' का निर्माण होता है जो कि समाजीकरण का प्रमुख आधार है। स्व के निर्माण के आधार पर ही व्यक्ति अपना मूल्यांकन करता है, अपने को हीन या श्रेष्ठ समझता है और समाजीकरण की दिशा तय करता है। व्यक्ति समाज का ही प्रतिबिम्व है। दूसरे व्यक्तियों के विचारों एवं निर्णयों के आधार पर ही वह अपने विचारों, मनोभावों एवं आदतों को बनाता है एवं अपने 'स्व' का विकास करता है। यह 'स्व' ही व्यक्तित्व निर्माण का आधार है।

4.3.4 आटो रैंक का व्यक्तित्व का सिद्धान्त

आटो रैंक (1884–1939) ने वियना विश्वविद्यालय से वर्ष 1912 में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। आपने एक पुस्तक लिखी जो 'दि वर्थ ट्रामा' नाम से सन् 1924 में प्रकाशित हुई। इनके सिद्धांत से संबंधित कतिपय तथ्य हैं–

1. जन्म अभिघात : जन्म अभिघात की अवधारणा को मनोविज्ञान में सर्वप्रथम सिगमण्ड फ्रायड ने अपने व्यक्तित्व सिद्धान्त में स्थान दिया था। सिगमण्ड फ्रायड ने जन्म अभिघात को अपने व्यक्तित्व के सिद्धान्त में केन्द्र बिन्दु नहीं माना। सर्व प्रथम 'आटो रैंक' ने जन्म अभिघात को व्यक्तित्व का केन्द्र बिन्दु माना। रैंक के अनुसार, 'गर्भस्थ शिशु के लिए गर्भाशय एक आनन्दपूर्ण परिस्थिति है, जहाँ उसे अत्यन्त सुख प्राप्त होता है। मानव–जीवन में शिशु का जन्म एक तीव्रतम आघातपूर्ण घटना है।'

टिप्पणी

शिशु में जन्म अभिघात के कारण पीड़ादायक चिन्ता उत्पन्न होती है जिसे आटो रैंक ने 'आदिम चिन्ता' कहा है। यही आदिम चिन्ता गर्भस्थ शिशु स्मृतियों को समाप्त कर देती है, यह दमन की प्रथम प्रक्रिया है। आटो रैंक का विचार है कि शिशु में माँ के गर्भाशय में वापस जाने की इच्छा तो विद्यमान रहती है, परन्तु उसमें गर्भस्थ जीवन की चेतन स्मृति समाप्त हो जाती है। जन्म अभिघात के समान दूसरी अभिघात घटना स्तन–त्याग है। रैंक यह मानते हैं कि जन्म अभिघात वैयक्तिकता और स्वायत्त इच्छा शक्ति के उत्पन्न होने का एक उपक्रम है।

2. व्यक्तित्व विकास : बालक या शिशु में आत्मनिर्भरता का विकास बहुत ही मन्द गति से होता है। साथ ही यह एक संघर्षपूर्ण प्रक्रिया भी है। आत्म निर्भरता के प्रत्येक स्तर में शिशु को किसी न किसी अलगाव का सामना करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, स्तन,–त्याग, बिना सहारे के चलना, बिना सहारे के भोजन करना, स्कूल जाना, विवाह करना इत्यादि। सभी के द्वारा व्यक्ति आत्म–निर्भर बनता है, और इन सभी स्तरों में किसी न किसी प्रकार के अलगाव अवश्य होते हैं।

अलगाव दो प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रकार के अलगाव में व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अलग होता है। जैसे–विवाह के समय अलगाव, तलाक के समय अलगाव, अधिक समय के लिए विदेश जाना आदि। इस प्रकार का अलगाव अपेक्षाकृत कम अभिघातपूर्ण होता है, क्योंकि इसमें व्यक्ति मानसिक रूप से पहले से ही तैयार होता है। इस प्रकार का अलगाव कम अभिघातपूर्ण इसलिए भी होता है कि इसमें व्यक्ति की इच्छा भी सम्मिलित होती है। दूसरे प्रकार के अलगाव वे अलगाव हैं जो आकस्मिक होते हैं। ऐसे अलगाव अधिक अभिघातपूर्ण हैं, क्योंकि व्यक्ति की न तो इसमें इच्छा सम्मिलित होती है और न ही व्यक्ति ऐसे अलगाव के लिए पहले से तैयार होता है। ऐसे अलगाव में, किसी प्रियजन की मृत्यु तथा स्तन–त्याग आदि आते हैं।

आटो रैंक के विचारानुसार, अलगाव में जब इच्छा सम्मिलित होती है तब इस प्रकार के अलगाव, व्यक्ति के अहम् के विकास को वास्तविक बनाते हैं। अहम् के विकास से अहम् मे आत्म–निर्भरता और स्वतंत्रता के गुण विकसित होते हैं। जब अलगाव आकस्मिक होते हैं तब अहम् का विकास अवास्तविक होता है। व्यक्ति में स्वतंत्रता और आत्म–निर्भरता के स्थान पर आश्रितता का विकास होता है। व्यक्ति में प्रत्येक प्रकार का अलगाव, व्यक्ति में कुछ न कुछ मात्रा में असुरक्षा की भावना को जन्म देता है। आकस्मिक –अलगाव व्यक्ति में अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में असुरक्षा उत्पन्न करता है। जब अलगाव से व्यक्ति, सम्बन्धित आघात सहन कर लेता है तब व्यक्ति का व्यवहार सामान्य रहता है और जब सम्बन्धित आघात व्यक्ति सहन नहीं कर पाता है तब व्यक्ति का व्यवहार असंतुलित और असामान्य हो जाता है।

3. व्यक्तित्व विकास की अवस्थायें : आटो रैंक के अनुसार व्यक्तित्व विकास की अवस्थाओं से व्यक्ति स्वतंत्रता और स्वायत्तता प्राप्त करता है। रैंक ने व्यक्तित्व विकास की तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है, जो अग्रलिखित है–

(अ) प्रथम अवस्था : व्यक्ति के व्यवहार को दो प्रकार की शक्तियां नियन्त्रित करती हैं। पहले प्रकार की शक्तियों को वाह्य बल कहा जाता है। जैसे, माता–पिता, समाज और नैतिक नियम, वह वाह्य शक्तियां जो शिशु के व्यवहार को नियन्त्रित करती हैं। दूसरे प्रकार की शक्तियां आंतरिक बल के नाम से

टिप्पणी

जानी जाती हैं, जिनमें व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकतायें, जैसे–भूख, प्यास, काम आदि आती हैं। ये वे आंतरिक शक्तियां हैं जो बालक या व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित करती हैं। रैंक के मतानुसार प्रथम अवस्था में व्यक्ति इन वाह्य और आंतरिक शक्तियों से सम्बन्धित व्यवहार स्वेच्छा से करने लगता है। जब व्यक्ति वाह्य शक्तियों को अन्तःक्षेपित करता है तो बहुत कुछ सम्भावना होती है कि व्यक्ति का व्यवहार और व्यक्तित्व समन्वित रहेगा। व्यक्ति सामाजिक मानकों के साथ तादात्मय भी स्थापित करता है। इस तादात्मय से वह समाज के अन्य लोगों के जैसा बन जाता है, और समाज में भिन्न रहने से जो पीड़ादायक अनुभव होते हैं, उनसे उसे मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार व्यक्ति में संघर्ष उत्पन्न होने की सम्भावना कम रहती है।

इस अवस्था को प्राप्त करने वाला व्यक्ति एक औसत व्यक्ति होता है जिसका व्यक्तित्व औसत सामान्य और औसत समायोजन वाला होता है।

(ब) द्वितीय अवस्था : व्यक्ति स्वायत्तता प्राप्त करने के लिए ऐसे मापदण्ड निर्मित करता है जो सामाजिक मापदण्डों से भिन्न होते हैं। उसका जीवन लक्ष्य, उसके आदर्श, उसके नैतिकता सम्बन्धी विचार आदि सब कुछ समाज द्वारा स्वीकृत तरीकों से भिन्न होते हैं। अतः ऐसे व्यक्ति में अन्तर्द्वन्द्व का रहना स्वाभाविक है। इस अवस्था में अन्तर्द्वन्द्व इस कारण भी उत्पन्न होता है कि इच्छाशक्ति व प्रति–इच्छाशक्ति में विच्छेद होता है।

ऐसी अवस्था को प्राप्त करने वाले व्यक्ति में अनेक लक्षण पाये जाते हैं, जैसे–हीनता की भावना, अपराध की भावना, आत्म–आलोचना, अधिक उत्पादनशीलता, अधिक सृजनात्मकता इत्यादि। इस अवस्था को प्राप्त करने वाला व्यक्ति समाज से तादात्मीकरण स्थापित नहीं कर पाता है। उसमें समाज के कारण द्वन्द्व उत्पन्न होते रहते हैं।

(स) तृतीय अवस्था : यह अवस्था, प्रथम अवस्था का ही उच्चतम रूप है। इस अवस्था की प्राप्ति प्रथम और द्वितीय अवस्था को पार करने के बाद प्राप्त होती है। इसमें द्वितीय अवस्था के जैसे द्वन्द्व नहीं होते हैं। यह अवस्था परम् आनन्द की अवस्था में होती है। इसमें व्यक्ति अपनी प्रतिभा को जगा लेता है। ऐसी अवस्था वाला व्यक्ति महान लेखक, कवि, वैज्ञानिक, कलाकार इत्यादि कुछ भी बन सकता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व में सृजनात्मकता की प्रधानता होती है। वाह्य संसार की तुलना में उसके द्वारा निर्मित आंतरिक संसार अधिक आकर्षक और सुन्दर होता है।

4. मनस्ताप पर विचार : रैंक के विचारानुसार सभी प्रकार के मनस्तापों का प्रमुख कारण 'जन्म अभिघात' है। यही जन्म अभिघात व्यक्ति में चिन्ता का अथाह सागर उत्पन्न करता है। प्रत्येक अलगाव के समय व्यक्ति चिन्ता के सागर में डूब जाता है, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति में मानसिक विकार उत्पन्न होते हैं।

मानसिक विकारों के उत्पन्न होने का प्रमुख कारण व्यवहार सम्बन्धी सामाजिक मानक हैं। प्रत्येक मानसिक रोग से ग्रस्त व्यक्ति न अपने स्वयं के द्वारा निर्मित मानकों का पालन कर पाता है और न ही वह समाज द्वारा बनाये मानकों के अनुसार चल

पाता है। व्यक्ति सामाजिक मानकों के साथ तादात्मय स्थापित नहीं कर पाता है तथा अपनी वैयक्तिकता भी स्थापित नहीं कर पाता है तो उसमें मानसिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

टिप्पणी

5. मनोचिकित्सा : मनोचिकित्सा में अलगाव से सम्बन्धित चिन्ता का निराकरण करना आवश्यक है। रैंक की मनोचिकित्सा पद्धति में रोगी के अचेतन के दबे हुए विचारों और भावना ग्रंथियों का विश्लेषण किया जाता है। रैंक, फ्रायड की तुलना में संक्षिप्त लेकिन प्रभावी मनोचिकित्सा को विकसित करना चाहते थे। रैंक जब अमेरिका प्रवासी हुए तब उन्होंने 'इच्छा–शक्ति मनोचिकित्सा' पद्धति का विकास किया। शुरू में रैंक की चिकित्सा पद्धति बहुत कुछ मनोविश्लेषण पर आधारित थी। बाद में उन्होंने पाया कि, इच्छाशक्ति–मनोचिकित्सा पद्धति का मनोविश्लेषण से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इच्छाशक्ति, मनोचिकित्सा पद्धति रोगी के सक्रिय समायोजन पर आधारित है। इस चिकित्सा पद्धति का प्रमुख उद्देश्य आत्म स्थापना की प्रवृति को प्रोत्साहित करना है। इसमें रोगी को दो बातों के लिए प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है : (i) रोगी में स्वास्थ्य प्राप्ति की इच्छा शक्ति का विकास हो। (ii) रोगी को आत्म स्थापन में उत्पन्न अपराध की भावना से मुक्ति मिल सके।

4.3.5 कार्ल युंग का सिद्धांत

कार्ल युंग फ्रायड के सहयोगी एवं शिष्य थे और फ्रायड से अलग होकर एक नये मनोवैज्ञानिक सिद्धांत को सन् 1913 में प्रतिपादित किया, जिसे 'मनोविश्लेषणात्मक मनोविज्ञान' के नाम से जाना जाता है। इनका जन्म 26 जुलाई सन् 1875 में स्वीट्जरलैण्ड के 'कैसविल' नगर में हुआ था। इन्होंने 'दी सीक्रेट ऑफ दी गोल्डेन फ्लावर' नामक पुस्तक भी लिखी। इन्होंने चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया तथा 1900 में मनोचिकित्सा का व्यवसाय आरम्भ किया। फ्रायड और युंग 1907 में मिले और कई वर्षों तक साथ में कार्य किया लेकिन सन् 1913 में अलग हो गये। इसका प्रमुख कारण सैद्धांतिक मतभेद था। इंगलैण्ड विश्वविद्यालय ने सन् 1938 में डाक्टरेट की उपाधि प्रदान की। इसी वर्ष युंग ने भारत की यात्रा की जिसमें वे कलकत्ता, बनारस तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालयों में गये जिनमें उन्हें इन विश्वविद्यालयों द्वारा डाक्टरेट की मानद उपाधि से सम्मानित किया गया। इनकी मृत्यु 6 जून, 1961 को स्वीट्जरलैण्ड में ही हो गयी।

कार्ल युंग द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत की प्रमुख बातें अग्रलिखित हैं–

1. व्यक्तित्व की संरचना : कूले के मतानुसार व्यक्तित्व की संरचना को समझना आवश्यक है। कूले ने व्यक्तित्व की संरचना को समझने के लिए बताया है कि, अहम्, व्यक्तिगत अचेतन एवं इससे संबंधित ग्रन्थियों, सामूहिक अचेतन और आक्रि टाइप, परसोना, एनिमा तथा एनिमए तथा छाया संबंधी अवधारणाओं का अध्ययन आवश्यक है। कार्ल युंग ने व्यक्तित्व के संदर्भ में 'आत्म' का भी उल्लेख किया है। ये आत्म को व्यक्तित्व का पूर्ण विकसित एवं समग्र रूप मानते थे। कार्ल युंग ने व्यक्तियों को अभिवृत्तियों के आधार पर दो भागों में विभाजित किया है–

(अ) बहिर्मुखी : युंग के अनुसार किसी व्यक्तित्व की बहिर्मुखता उसका ऐसा आयाम है जिससे हम किसी व्यक्ति के सामाजिक समायोजन को समझ पाते हैं। जो

टिप्पणी

व्यक्ति वहिर्मुखी होता है वह समाज में अपना स्थान निर्मित कर लेता है तथा अन्य व्यक्तियों से अच्छे सामाजिक व्यवहार कर पाता है। युंग के अनुसार बहिर्मुखता का आशय है कि व्यक्ति की लिबिडो का बाहर की ओर जाना। इनके अनुसार 'लिबिडो' जीवन की सामान्य ऊर्जा है। इसकी प्रभावशीलता तीन रूपों में प्रत्यक्ष होती है : 1. जन्म से लेकर लगभग पांच वर्ष की अवस्था तक लिबिडो से ऐसी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है जो बालक के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए आवश्यक है। 2. पांच वर्ष से लेकर किशोरावस्था तक यह कामुक लक्ष्यों की ओर निर्देशित होती है। 3. लगभग 35 वर्ष की आयु से यह आध्यात्मिक और दार्शनिक लक्ष्यों की ओर निर्देशित होने लगती है।

लिबिडो की अवधारणा के माध्यम से युंग ने बताया है कि यह एक विषयी के किसी विषय के प्रति रूझान का संकेत प्रदान करती है। जो लोग वहिर्मुखी होते हैं उनकी भावनायें, विचार और कार्य हमेशा किसी दूसरी वस्तु या व्यक्ति एवं विचार से संबंधित होते हैं।

(ब) अन्तर्मुखी : जब व्यक्ति का लिबिडो स्वयं अपनी तरफ उन्मुख होता है तो अन्तर्मुखता की प्रवृति उत्पन्न होती है। इसके कारण व्यष्टि और समष्टि में नकारात्मक संबंध पाया जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो व्यक्ति की अभिरूचि किसी अन्य में न होकर स्वयं अपने में होती है। अन्तर्मुखी व्यक्ति के चिन्तन, भावना व कार्यों का केन्द्र व्यक्ति का अहम् होता है। वह जितने भी कार्य करता है उसके पीछे मूल प्रेरणा यह होती है कि उसका अपना महत्व सबसे अधिक है। ऐसे व्यक्ति अन्तर्मुखी चिंतन करते हैं। ये दिवास्वप्नी, शांतिप्रिय तथा रचनात्मकता से परिपूर्ण होते हैं।

2. अहम् : व्यक्तित्व की संरचना में युंग ने अहम् को विशेष स्थान प्रदान किया है। उनके अनुसार, अहम् व्यक्ति के चेतना क्षेत्र का केन्द्र–बिन्दु है। इसमें अति उच्च कोटि की निरन्तरता एवं समरूपता पाई जाती है। अतः अहम् के संबंध में युंग ने अहम् ग्रथि का उल्लेख किया है। उनके अनुसार अहम् ग्रन्थि चेतना का उतना ही महत्वपूर्ण अंग है, जितना कि उसकी परिस्थिति का परिचायक। युंग कहते हैं कि हम किसी मनोवैज्ञानिक धारणा से उसी समय अचेतन रूप से परिचित होते हैं जबकि उसका संबंध हमारी अहम् ग्रन्थि से होता है।

युंग ने स्पष्ट किया है कि यद्यपि अहम् चेतना के केन्द्र में है फिर भी यह सम्पूर्ण चैत्य या 'साइकी' के समकक्ष नहीं है। इसी कारण युंग अहम् व आत्म के बीच अन्तर मानते हैं। इसका आधार यह है कि अहम् चेतना का केन्द्र बिन्दु है जबकि आत्म सम्पूर्णता का परिचायक है। सम्पूर्णता में चैत्य भी अन्तर्निहित है। इस प्रकार अहम् आत्म का एक अंग है। इतना ही नहीं, अचेतन कल्पना में आत्म एक आदर्श व्यक्तित्व के रूप में प्रकट होता है। यह उसी प्रकार का आदर्श रूप है जिसकी कल्पना महान् चिंतकों ने की है।

3. अचेतन : कार्ल युंग ने अचेतन के दो प्रकारों की व्याख्या की है जिसमें प्रथम व्यक्तिगत अचेतन है तथा दूसरा सामूहिक अचेतन है।

टिप्पणी

(अ) व्यक्तिगत अचेतन : अहम् के विभिन्न अनुभवों का संग्रह व्यक्तित्व के अचेतन में रहता है, विशेषकर उन अनुभवों का जिन्हें व्यक्ति भूल जाना चाहता है या जिन्हें वह अवांछनीय मानता है। व्यक्तिगत अचेतन में संग्रहित अनुभवों को चेतना में लाया जा सकता है। मनोचिकित्सा करते समय मनोर्वज्ञानिक इस बात का प्रयास करते हैं कि व्यक्तिगत अचेतन में जो अवांछनिय विचार एवं भावनायें हैं उन्हें बाहर लाया जाय जिससे कि मानसिक ग्रन्थियों को खोला जा सके। वास्तव में व्यक्तिगत अचेतन उन अनुभवों के आधार पर बनता है जिन्हें व्यक्ति भूल चुका होता है। व्यक्तिगत अचेतन में कल्पनायें और अस्पष्ट अनुभव होते हैं।

(ब) सामूहिक अचेतन : सामूहिक अचेतन कार्ल युंग की महान देन है। कार्ल युंग उन सभी मानसिक विचारों, धारणाओं, भावनाओं आदि को सामूहिक मानते हैं जिनके संबंध किसी व्यक्ति विशेष से नहीं होता बल्कि वे किसी जाति या समाज में सामूहिक स्तर पर पाये जाते हैं। इतना ही नहीं, सामूहिक अचेतन सम्पूर्ण मानव जाति में भी पाया जाता है। सामूहिक अचेतन में रहस्यवादी सामूहिक विचारों की प्रधानता होती है। न्याय, धर्म, राज्य, ज्ञान–विज्ञान के विषय में जो धारणायें किसी सभ्य समाज में पायी जाती हैं उनका संबंध सामूहिक अचेतन से होता है। भारतीय दृष्टि से ज्ञान, भक्ति, कर्म, आदि के विषय में जो विचार प्रचलित हैं उनका संबंध भी सामूहिक अचेतन से है। युंग ने यह बताने का प्रयास किया कि सामूहिक अचेतन मानव जाति के समस्त संस्कारों, विचारों, भावनाओं, आदि का असीमित भण्डार है। मानव ने अपने विकास के रास्ते में जो भी कुछ अनुभव किया है वह सामूहिक अचेतन में पाया जाता है। व्यक्ति चाहें किसी जाति या देश का हो, सामूहिक अचेतन की दृष्टि से वह मानव जाति का एक अभिन्न अंग है और इस प्रकार मानव एकता के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर सामूहिक अचेतन की संकल्पना समुचित प्रकाश डालती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सामूहिक या जातिय अचेतन लाखों वर्षों से अर्जित पूर्वजों के अनुभवों का भण्डार है। मानव जाति के एकत्रित अनुभवों का भण्डार ही सामूहिक अचेतन है। यह अनुभव व्यक्ति को परम्परागत रूप से उनके माता–पिता से वंशानुक्रम के द्वारा प्राप्त होते हैं।

4. आर्की टाइप (Arche Type) : सामूहिक अचेतन और आर्की टाइप में घनिष्ठ संबंध है। सामूहिक अचेतन में एकत्र सामग्री मूलतः आर्की टाइप से संबंधित होती है। आर्की टाइप को स्पष्ट करते हुए युंग ने बताया है कि उन रूपों या बिम्बों को आर्की टाइप कहते हैं जिनकी प्रकृति सामूहिक है और जो प्रायः समस्त मानव जाति में पाये जाते हैं। इनकी अभिव्यक्ति व्यक्तिगत अचेतन में होती है। लेकिन इनका संबंध सामूहिक अचेतन से है। इस प्रकार आर्की टाइप उन तरीकों से संबंधित है जो सम्पूर्ण मानव जाति के अनुभवों और संस्कारों से बनते हैं।

सामूहिक अचेतन का मूल अर्थ यह है कि व्यक्तिगत अचेतन में जो प्रतिमायें या प्रतीक उपस्थित होते हैं वे अन्य व्यक्तियों में भी पाये जाते हैं। इस दृष्टि से आर्की टाइप सामूहिक अचेतन से संबंधित है। युंग का यह मत कभी नहीं था कि सामूहिक अचेतन आर्की टाइप का एक विशाल संग्रह है। संक्षेप में कह सकते हैं कि सामूहिक

शब्द का प्रयोग युंग ने व्यक्तिगत एवं व्यक्तिनिष्ठ के विलोम के रूप में किया था। जहां तक अचेतन शब्द का संबंध है, उसके द्वारा युंग ने यह बताना चाहा कि व्यक्ति के मन की घोरतम गहराई में एक विशालतम क्षेत्र है जो कि अनेक दृष्टियों से उपयोगी एवं सृजनशील है।

टिप्पणी

5. परसोना या मुखौटा : परसोना का शाब्दिक आशय मुखौटा होता है। जब यूनानी नाटक में एक पात्र किसी भूमिका को निभाने के लिये मंच पर आता था तो वह एक प्रकार के मुखौटे का प्रयोग करता था। वहीं से इस शब्द की उत्पत्ति हुई। इस शब्द का प्रयोग व्यक्तित्व मनोविज्ञान में भी किया जाने लगा। युंग ने परसोना शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में किया है। उनके अनुसार सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति एवं सामाजिक परम्पराओं के पालन के लिए व्यक्ति अपने में जो परिवर्तन लाता है वह वास्तव में उसके आन्तरिक रूपों की आवश्यकताओं से संबंधित होता है और इसी परिवर्तित रूप को परसोना कहते हैं। अन्य अर्थों में किसी व्यक्ति से उसका समाज क्या चाहता है या उसे अपने सामाजिक जीवन में किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए इन सब का संबंध व्यक्ति के परसोना से है। परसोना के माध्यम से कोई व्यक्ति अपने सामाजिक प्रभाव एवं महत्व में वृद्धि करता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि परसोना वह सामाजिक मुखौटा है जो व्यक्ति, अन्य व्यक्तियों के सामने पहने रहता है। यह देखा गया है कि जब व्यक्ति का अहम् परसोना से तादात्म्य स्थापित कर लेता है तब व्यक्ति वह भूमिकायें अधिक अदा करता है जो समाज के अनुरूप होती हैं। यह भूमिकायें समझौता पूर्ण होती हैं परन्तु व्यक्ति के वास्तविक व्यक्तित्व से संबंधित नहीं होती हैं।

6. एनिमा और एनिमस : व्यक्ति के व्यक्तित्व की व्यापक संरचना में एनिमा और एनिमस जैसी स्वतंत्र मानसिक रचनायें होती हैं। एनिमा का विलोम एनिमस है। व्यक्ति की चेतना में इन दो शब्दों के द्वारा युंग ने दो विरोधी वृत्तियों का उल्लेख किया है। प्रत्येक पुरुष की चेतना में ऐसे गुण विकसित होते हैं जो कि पुरुषोचित कहे जाते हैं। लेकिन उसकी चेतना में एक नारी पक्ष भी होता है। इसी को युंग ने एनिमा कहा है। एनिमा किसी पुरुष की चेतना के नारी पक्ष का नाम है। इसी प्रकार प्रत्येक नारी की चेतना का एक नर पक्ष है जिसे कि युंग ने एनिमस बताया है।

युंग का यह विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व में नर और नारी के गुण समाहित होते हैं। हिन्दू धर्म में अर्धनारीश्वर की जो कल्पना है वह इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। इसमें सन्देह नहीं है कि पुरुष में कुछ नारी के जैसे सुलभ गुण पाये जाते हैं और इसी प्रकार कुछ स्त्रियों में ऐसे गुण होते हैं जो कि पुरुषोचित होते हैं। अन्तर केवल प्रधानता की दृष्टि से होता है। पुरुष के व्यक्तित्व एवं चरित्र में पुरुषोचित गुणों की प्रधानता होती है और नारी सुलभ गुण कम मात्रा में पाये जाते हैं। यदि कभी किसी पुरुष के व्यक्तित्व में किन्हीं कारकों में नारी सुलभ गुणों की प्रधानता हो जाती है तो उसकी विचारधारा में भी परिवर्तन दिखायी पड़ता है। ऐसे पुरुष का व्यवहार स्त्रियों के जैसा होने लगता है। लेकिन इस प्रकार के उदाहरण हमारे समाज में कम ही देखने को मिलते हैं क्योंकि बच्चे के परिवार और समाज उसे ऐसी शिक्षा देते हैं कि उसमें उचित गणों का विकास हो।

टिप्पणी

7. छाया : व्यक्ति के अन्दर जो पाशविक प्रवृत्ति पाई जाती है, उसी को छाया कहते हैं। मनुष्य का विकास जीवन के निम्न स्तर से हुआ है और धीरे–धीरे उसने अपनी पाशविक प्रवृत्तियों पर विजय पाई है। फिर भी प्रत्येक मनुष्य के स्वभाव में कुछ पाशविक प्रवृत्तियां आज भी विद्यमान होती हैं। इन प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर जब व्यक्ति कार्य करता है तो इसे ही युंग ने आर्की टाइप से संबंधित माना है। छाया के कारण सामाजिक दृष्टि से अनुचित भाव, विचार और क्रियायें होती हैं। व्यक्ति इन अनुचित व्यवहारों एवं कार्यों को अपने परसोना के द्वारा छिपाता है या प्रयास पूर्वक इनका दमन करके इन्हें अपने व्यक्तिगत अचेतन में डाल देता है।

8. व्यक्तित्व का विकास : व्यक्तित्व के विकास के बारे में युंग ने बताया है कि–

(i) जन्म से लेकर लगभग पांच वर्ष की अवस्था तक बालक की लिबिडो जीवन रक्षा के लिए आवश्यकत कार्यों में लगी रहती है।

(ii) पांच वर्ष से कुछ पूर्व बालक में योनि संबंधी मूल्यों का विकास होता है तथा किशोरावस्था तक चरमसीमा तक पहुंच जाता है।

(iii) प्रारम्भिक प्रौढावस्था से प्रौढ़ावस्था तक (लगभग 40 वर्ष की अवधि तक) व्यक्ति, व्यवसाय खोजता है, विवाह करता है और बच्चे पैदा करता है।

(iv) वृद्धावस्था में आध्यात्मिकता की तरफ झुकाव होने लगता है।

9. आत्म : आत्म की प्राप्ति व्यक्ति अनेक प्रयत्नों के बाद ही कर पाता है। यह व्यक्ति में स्वतः नहीं होती है। यह एक प्रकार का विकासात्मक परिवर्तन है। युंग यह मानते हैं कि व्यक्तित्व के सभी पक्षों का विभेदीकरण होने पर ही आत्म का उद्‌गमन होता है। आत्म व्यक्तित्व को एकता, स्थैर्य और सन्तुलन प्रदान करता है तथा यह व्यक्तित्व के सभी पक्षों का समन्वय करता है। स्वयं के वास्तवीकरण के द्वारा व्यक्ति का व्यक्तित्व अपने उच्चतम स्तर तक पहुंचता है।

10. साइकिक या चैत्य मूल्य : चैत्य ऊर्जा के संदर्भ में युंग ने चैत्य मूल्यों का भी उल्लेख किया है। उनके अनुसार जब हम व्यक्तित्व के किसी तत्व से संबंधित चैत्य ऊर्जा का आंकलन करते हैं तब उसे चैत्य मूल्य कहा जाता है। अर्थात् चैत्य मूल्य चैत्य ऊर्जा की गहनता एवं तीव्रता का परिचायक है। व्यक्तित्व के किसी तत्व में जितनी ही गहन चैत्य ऊर्जा होगी उससे संबंधित चैत्य मूल्य भी उतना ही श्रेष्ठ होगा। रोजमर्रा के जीवन में जब हम किसी विचार या धारणा को अच्छा मानते हैं या जब हम किसी आदर्श को स्वीकार करते हैं तब उनके मूल में चैत्य मूल्य की उपस्थिति मानी जाती है। व्यक्ति का किसी आदर्श के अनुसार कार्य करना उसके व्यक्तित्व में चैत्य मूल्यों की गतिशिलता का परिचायक है। आशय यह है कि हम अपने जीवन में कब किस कार्य को अधिक या कम महत्व देते हैं, इसका संबंध चैत्य ऊर्जा से उत्पन्न एवं व्यक्तित्व के तत्वों से संबंधित चैत्य मूल्यों से है।

11. शब्द साहचर्य परीक्षण : युंग ने इस परीक्षण का निर्माण किया। इसमें 100 उद्‌दीपक शब्द हैं। इन शब्दों का चयन उन्होंने संवेगात्मक तीव्रता के आधार पर किया है। इन उद्‌दीपक शब्दों को एक–एक कर प्रयोज्य के सामने प्रस्तुत किया जाता है तथा उससे कहा जाता है कि उद्‌दीपक शब्द को सुनकर आपके मन में जो

पहला शब्द आये उसे जल्दी से जल्दी बोलना है। प्रयोज्यों की भावना ग्रंथियों और अन्तर्द्वन्दों के संबंध में जानकारी अनेक आधारों पर प्राप्त की जाती है; जैसे, प्रत्युत्तर देने में लगा समय, प्रत्युत्तर की तार्किकता और संगति, प्रत्युत्तर देते समय कुछ विशिष्ट अभिव्यक्तियां इत्यादि। युंग के अनुसार भावना ग्रंथियां सहचारी विचारों का वह समूह होता है जिसमें तीव्र संवेगात्कता होती है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

3. व्यक्तित्व के मनो–गतिशीलता सिद्धांत का सूत्रधार किसे माना जाता है?

   (क) फ्रायड (ख) एडलर

   (ग) कूले (घ) युंग

4. व्यक्तिगत अचेतन और सामूहिक अचेतन : अचेतन के इन दो प्रकारों की व्याख्या किसने की?

   (क) आलपोर्ट (ख) जेम्स

   (ग) कार्ल युंग (घ) कूले

4.4 व्यवहार का सिद्धांत

यह सिद्धांत व्यवहार की आंतरिक गतिकी को महत्त्व नहीं देता है। अर्थात् व्यक्ति के आंतरिक गतिशीलता को इस सिद्धांत में कोई महत्व प्रदान नहीं किया गया है। व्यवहारवादी विद्वान, प्रेक्षणीय एवं मापन योग्य प्रदत्तों में ही विश्वास करते हैं या उनको महत्त्व देते हैं। इस प्रकार वे उद्दीपक–अनुक्रिया संयोजनों के अधिगम और उनके प्रबलन पर ही बल देते हैं। इन विद्वानों के अनुसार पर्यावरण के प्रति की गई व्यक्ति की अनुक्रिया के रूप में ही व्यक्तित्व को सर्वोत्तम प्रकार से समझा जा सकता है। अनुक्रिया की विशेषताओं में परिवर्तन के रूप में ही प्रायः वे विकास को समझते हैं, अर्थात् कोई व्यक्ति नए पर्यावरण तथा उद्दीपकों के प्रति की गई अनुक्रियाओं द्वारा ही नया व्यवहार सीखता है।

अधिकांश व्यवहारवादियों के लिए व्यक्तित्व की संरचनात्मक इकाई अनुक्रिया है। प्रत्येक अनुक्रिया एक व्यवहार है, जो किसी विशिष्ट आवश्यकता को संतुष्ट करने के लिए प्रकट की जाती है। जैसा कि हम जानते हैं कि, हम भोजन इसलिए करते हैं क्योंकि हमें भूख लगी रहती है, किंतु भोजन के संदर्भ में हम बहुत चयनात्मक भी होते हैं। उदाहरण के लिए, मान लिजिए बच्चे अनेक प्रकार की सब्जियाँ खाना पसंद नहीं करते हैं; जैसे–पालक, लौकी, करेला इत्यादि। परन्तु धीरे–धीरे वे इनको खाना सीख लेते हैं। ऐसा व्यवहार वे क्यों करते हैं? व्यवहारवादी उपागम के अनुसार बच्चे शुरू में इन सब्जियों को अपने माता–पिता से प्रशंसा पाने के लिए खाते हैं तथा बाद में वे इन सब्जियों को खाना सीख लेते हैं, केवल इस कारण से ही नहीं कि उनके माता–पिता इस व्यवहार से प्रसन्न होते हैं, बल्कि इस कारण से भी कि उन्हें इन सब्जियों का स्वाद लग गया है और वे इन सब्जियों को सेहत के लिए अच्छा समझते हैं। इस प्रकार, व्यवहार को संगठित करने वाली केन्द्रीय प्रवृत्ति, जैविक अथवा

टिप्पणी

सामाजिक आवश्यकताओं में कमी है, जो व्यवहार को उत्प्रेरित करती है। यह स्थिति तब उत्पन्न होती है जब अनुक्रियाएँ प्रबलित होती हैं।

प्राचीन अनुबंधन, नैमित्तिक अनुबंधन और प्रेक्षणात्मक अधिगम सिद्धांतों में अधिगम और व्यवहार के संपोषण का विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। इन सिद्धांतों के नियमों का व्यक्तित्व–सिद्धांतों के विकास में व्यापक रूप से उपयोग किया गया है। उदाहरण के लिए प्रेक्षणात्मक अधिगम सिद्धांत अधिगम में चिंतन प्रक्रियाओं को अत्यधिक महत्त्व देता है, परन्तु प्राचीन एवं नैमित्तिक अनुबंधन सिद्धांतों में चिंतन प्रक्रियाओं को प्रायः कोई स्थान नहीं दिया गया है।

इसी प्रकार प्रेक्षणात्मक अधिगम सिद्धांत सामाजिक अधिगम; प्रेक्षण एवं दूसरों के अनुकरण पर आधारित और आत्म–नियमन पर बल देता है, जो अन्य सिद्धांतों में अनुपस्थित हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

5. अधिकांश व्यवहारवादियों के लिए व्यक्तित्व की संरचनात्मक इकाई क्या है?

(क) प्रतिक्रिया (ख) अनुक्रिया

(ग) उक्त दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।

4.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (घ)
3. (क)
4. (ग)
5. (ख)

4.6 सारांश

फ्रायड को आधुनिक मनोविज्ञान का जनक माना जाता है। फ्रायड के योगदान का प्रभाव मनोविज्ञान के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी पड़ा, जिसका मुख्य कारण उसके विचारों का सार्थक और रूचिपूर्ण होना है। फ्रायड के योगदानों के फलस्वरूप मनोविज्ञान में एक नया युग और नया मोड़ आया। इस सबसे मनोविज्ञान की विषय सामग्री से बल ही नहीं मिला बल्कि मनोविज्ञान विकास की ओर अधिक उन्मुख हुआ। फ्रायड ने अपने सिद्धान्त में व्यक्तित्व संरचना के बारे में उल्लेख करते हुए बताया कि व्यक्तित्व संरचना में, चेतन, अर्धचेतन एवं अचेतन मन का प्रमुख स्थान होता है।

फ्रायड ने मनोलैंगिक सिद्धान्त में विभिन्न प्रकार की अवस्थाओं का वर्णन किया है। जिसमें गुदीय अवस्था, लैंगिक अवस्था, सुप्तावस्था तथा जननेन्द्रिय अवस्थाओं का वर्णन किया है।

कूले ने व्यक्तित्व के सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए बताया है कि व्यक्ति और समाज को एक–दूसरे से अलग करके उनके बारे में वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया जा सकता है।

टिप्पणी

समाज के सम्पर्क में आने पर ही व्यक्ति के 'आत्म' का विकास होता है। समाज व्यक्ति के लिए दर्पण का कार्य करता है, जिसमें व्यक्ति अपनी परछाई को देखता है तथा समाज के लोग उसके बारे में क्या कहते हैं, उसी आधार वह अपने बारे में धारणा बनाता है।

रैंक का विचार है कि गर्भस्थ शिशु के लिए गर्भाशय एक आनन्दपूर्ण परिस्थिति है, जहाँ उसे अत्यन्त सुख प्राप्त होता है। मानव–जीवन में शिशु का जन्म एक तीव्रतम आघातपूर्ण घटना है। शिशु में जन्म अभिघात के कारण पीड़ादायक चिन्ता उत्पन्न होती है, जिसे रैंक आदिम चिन्ता कहते हैं।

4.7 मुख्य शब्दावली

- **इदम्** : जन्म के समय मानव शिशु का मन पूर्णरूपेण से इदम् होता है, अतः इदम् जन्मजात और वंशानुगत है। इसे फ्रायड ने असंख्य पूर्वजों के स्मृति अवशेषों का भण्डार माना है।
- **अहम्** : फ्रायड का अहम् से आशय 'आत्म' या 'चेतन बुद्धि' से है। अहम्, इदम् की इच्छाओं और भौतिक जगत की वास्तविकताओं के बीच समायोजनकर्ता का कार्य करता है।
- **जन्म–अभिघात** : शिशु जब गर्भस्थ होता है तो उसे चरम् आन्नद मिलता है लेकिन जब वह जन्म लेता है तो उसे पीड़ादायक अभिघात मिलता है। शिशु का जन्म लेना ही जन्म–अभिघात कहलाता है।
- **मनोचिकित्सा** : मनोचिकित्सा का अर्थ मनोवैज्ञानिक प्रविधियों के द्वारा उन मानसिक विकारों का उपचार करना है, जो मनोजन्य कारणों से उत्पन्न हुए हैं।

4.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. व्यक्तित्व से क्या तात्पर्य है?
2. व्यक्तित्व की एक परिभाषा बताइए।
3. व्यक्तित्व कितने प्रकार का होता है?
4. सिगमण्ड फ्रायड कौन थे?
5. मनो–विश्लेषण के आवश्यक अंग क्या हैं?

टिप्पणी

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. व्यक्तित्व की अवधारणा स्पष्ट करते हुए इसके विविध स्वरूपों पर प्रकाश डालिए।
2. फ्रायड के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत की विवेचना कीजिए।
3. व्यक्तित्व के विविध प्रकारों का वर्णन कीजिए।
4. अल्फ्रेड एडलर कौन थे? इनके द्वारा प्रदत व्यक्तित्व सिद्धांत का अवलोकन कीजिए।
5. 'व्यवहार का सिद्धांत' पर सारगर्भित टिप्पणी लिखिए।

4.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. गुप्ता, प्रो. एम० एल० एवं शर्मा, डा० डी० डी०, ''सामाजिक मनोविज्ञान'', साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, वर्ष–2000, पेज नं. 134–135.
2. जायसवाल, डा० सीताराम, ''व्यक्तित्व का मनोविज्ञान'', विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, वर्ष 1999, पेज नं.–47–55.
3. मिश्र, डा० प्रयागदीन, ''सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य'', उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, वर्ष–1997, पेज नं.–610, 617.
4. श्रीवास्तव, डा० डी० एन०, ''आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान'', तृतीय संस्करण, वर्ष–1982 पेज नं.–118, 121.
5. प्रिंस, मॉर्टन, ''दी अनकांशस'', सेकेण्ड इडिशन, ईयर, 1924, पे. 542.
6. मन, एन0 एल0, ''साइकोलाजी'', जार्ज जी0 हार्प ऐण्ड लंदन, वर्ष, 1953, पेज, 569.
7. आलपोर्ट, जी0 डब्लू, ''पर्सनाल्टीः ए साइकोलाजिकल इंटरप्रीटेशन'', हेनरी होल्ट ऐण्ड कं0, न्यूयाक्र, वर्ष, 1937, पेज, 18.
8. यंग, किम्बाल, ''हैण्डबुक ऑफ सोशल साइकोलाजी'', मैक्ग्राहिल बुक कं0, वर्ष, 1949, पेज, 184.
9. डेशिल, जे0 एफ0, ''फण्डामेंटल ऑफ आब्जेक्टिव साइकोलाजी'', अप्पटन मिफालिन रास्टन, वर्ष, 1929, पेज, 55.

इकाई 5 बुद्धि–लब्धि तथा भावनात्मक–लब्धि

टिप्पणी

संरचना

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 बुद्धि का अर्थ एवं परिभाषाएं
  5.2.1 बुद्धि के खण्ड या कारक का सिद्धांत
  5.2.2 एक–खण्ड या कारक का सिद्धांत (बिने, टर्मन, स्टर्न)
  5.2.3 दो–खण्ड या कारक का सिद्धांत (चार्ल्स स्पीयरमैन)
  5.2.4 तीन–खण्ड या कारक का सिद्धांत (स्पीयरमैन)
  5.2.5 बहु–खण्ड या कारक का सिद्धांत (कैली तथा थर्स्टन)
  5.2.6 मात्रा का सिद्धांत (थार्नडाइक)
5.3 बुद्धि–लब्धि एवं बहु–बुद्धि
  5.3.1 बुद्धि–लब्धि
  5.3.2 मल्टीपल इंटेलिजेंस या बहु–बुद्धि
5.4 सामाजिक बुद्धि
  5.4.1 सामाजिक बुद्धि क्या है?
  5.4.2 सामाजिक बुद्धि के तत्व
  5.4.3 सामाजिक बुद्धि का महत्व
5.5 भावनात्मक बुद्धि
5.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.7 सारांश
5.8 मुख्य शब्दावली
5.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.10 सहायक पाठ्य सामग्री

5.0 परिचय

ज्ञान जीवन का आधार है। इसके बिना जीवन कठिन प्रतीत होता है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में हमारे ऋषि–मुनियों ने ज्ञान को जीवन का प्रमुख साधन एवं साध्य माना है। इस प्रकार जो व्यक्ति ज्यादा से ज्यादा ज्ञान का अर्जन कर लेता है उसे हमारे समाज में ऊंचा स्थान प्राप्त होता है। मनोवैज्ञानिकों ने ज्यादा से ज्यादा ज्ञान अर्जन करने की योग्यता को 'बुद्धि' माना है।

व्यक्ति को जीवन में समय–समय पर विभिन्न प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ये समस्यायें जीवन को उथल–पुथल से भर देती हैं। अतः इन समस्याओं पर जो व्यक्ति जितनी शीघ्रता से विजय प्राप्त कर लेता है या उनका समाधान करने में सफल हो जाता है, वह व्यक्ति उतना ही अधिक बुद्धिमान माना जाता है। इस प्रकार कुछ मनोवैज्ञानिकों के द्वारा समस्या–समाधान की योग्यता को ही बुद्धि के रूप में परिभाषित किया जाता है।

इस इकाई में बुद्धि का अर्थ एवं परिभाषा तथा बुद्धि के कारक या खण्ड–सिद्धांतों का वर्णन करते हुए बुद्धि–लब्धि तथा मानसिक योग्यता का व्यौरा प्रस्तुत किया

टिप्पणी

गया है। मल्टीपल इंटेलिजेंस या बहु–बुद्धि, सामाजिक बुद्धि और भावनात्मक बुद्धि की विवेचना भी इस इकाई में की गई है।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- बुद्धि को परिभाषित कर पाएंगे;
- बुद्धि के कारक सिद्धांतों को समझ पाएंगे;
- मानसिक बुद्धि एवं बुद्धि–लब्धि पर प्रकाश डाल पाएंगे;
- मल्टीपल इंटेलिजेंस या बहु–बुद्धि से अवगत हो पाएंगे;
- सामाजिक बुद्धि एवं भावनात्मक बुद्धि से परिचित हो पाएंगे।

5.2 बुद्धि का अर्थ एवं परिभाषाएं

बुद्धि शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से ही व्यक्ति की तत्परता, तात्कालिकता, समायोजन तथा समस्या–समाधान की क्षमताओं के रूप में प्रयुक्त होता रहा है। सभी व्यक्ति समान रूप से योग्य नहीं हो सकते हैं। मानसिक योग्यता ही उनके असमान होने का प्रमुख कारण है।

बुद्धि क्या है? इस संबंध में मनोवैज्ञानिकों में हमेशा से ही मतभेद रहा है। इस मतभेद को समाप्त करने के लिए प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक अनेक अवसरों पर एकत्र हो चुके हैं। 1910 और फिर 1921 में मनोवैज्ञानिकों की सभा हुई थी। 1923 में विश्व के मनोवैज्ञानिकों की 'अंतर्राष्ट्रीय परिषद्' हुई। लेकिन जैसा कि रॉस ने लिखा है कि, ''वे यह निश्चित नहीं कर सके कि बुद्धि में स्मृति या कल्पना, या भाषा, अथवा अवधान, या गामक योग्यता, या संवेदना सम्मिलित है अथवा नहीं।''

अलग–अलग मनोवैज्ञानिकों की बुद्धि के स्वरूप के बारे में अपनी अवधारणा है। इसे हम निम्नांकित उद्धरणों द्वारा समझ सकते हैं–

वुडवर्थ के अनुसार, ''बुद्धि कार्य करने की एक विधि है।''

टरमन के अनुसार, '' बुद्धि अमूर्त विचारों के बारे में सोचने की योग्यता है।''

वुडरो के अनुसार, ''बुद्धि ज्ञान का अर्जन करने की क्षमता है।''

डीयरबार्न के बनुसार, ''बुद्धि सीखने या अनुभव से लाभ उठाने की क्षमता है।''

हेनमान के अनुसार, ''बुद्धि में दो तत्व होते हैं–ज्ञान की क्षमता और निहित ज्ञान।''

बिने के अनुसार, ''बुद्धि इन चार शब्दों में निहित है–ज्ञान, आविष्कार, निर्देश और आलोचना।''

थार्नडाइक के अनुसार, ''सत्य या तथ्य के दृष्टिकोण से उत्तम प्रतिक्रियाओं की शक्ति ही बुद्धि है।''

पिन्टर के अनुसार, ''जीवन की अपेक्षाकृत नवीन परिस्थितियों से अपना सामंजस्य स्थापित करने की व्यक्ति की योग्यता ही बुद्धि है।''

टिप्पणी

कॉलविन के अनुसार, ''यदि व्यक्ति ने अपने वातावरण से सामंजस्य करना सीख लिया है या सीख सकता है, तो उसमें बुद्धि है।''

रायबर्न के अनुसार, ''बुद्धि वह शक्ति है, जो हमको समस्याओं का समाधान करने और उद्देश्यों को प्राप्त करने की क्षमता देती है।''

बुद्धि से संबंधित सभी परिभाषाएं महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि वे विभिन्न दृष्टिकोणों से बुद्धि के स्वरूप पर प्रकाश डालती हैं और उसकी किसी न किसी रूप में व्याख्या करती हैं। उपरोक्त के अलावा, बुद्धि के संबंध में और भी अनेक लेखकों की परिभाषायें उद्धृत की जा सकती हैं। सामान्य तौर पर ऐसी परिभाषाओं के आधार पर बुद्धि में निम्न प्रकार की योग्यता होती है–

1. सीखने की योग्यता।
2. अमूर्त चिन्तन की योग्यता।
3. समस्या का समाधान करने की योग्यता।
4. अनुभव से लाभ उठाने की योग्यता।
5. संबंधों को समझने की योग्यता।
6. अपने वातावरण से सामंजस्य स्थापित करने की योग्यता।

बुद्धि की परिभाषाओं में वस्तुतः पारस्परिक विरोध नहीं है, क्योंकि वे सभी एक बात को कहने की विभिन्न विधियां हैं। जैसे, यदि किसी व्यक्ति में अनुभव से लाभ उठाने की योग्यता है, तो वह अपने पर्यावरण से सामंजस्य स्थापित कर सकता है और कुछ समस्याओं का समाधान भी कर सकता है। इसी प्रकार, यदि किसी व्यक्ति में अमूर्त चिन्तन की योग्यता है, तो उसमें संबंधों को समझने की योग्यता हो सकती है, और यदि वह संबंधों को समझ सकता है, तो उसमें सीखने की योग्यता हो सकती है।

कुछ मनोवैज्ञानिक यह मानते हैं कि बुद्धि वंशानुगत होती है जबकि कुछ मनोवैज्ञानिको को मानना है कि बुद्धि वंशानुगत नहीं यत्न–जनित होती है। व्यक्ति जिस प्रकार के पर्यावरण या वातावरण में रहता है उसी के अनुरूप कार्य करने लगता है। इस आधार पर कुछ मनोवैज्ञानिक परिस्थिति को महत्वपूर्ण मानते हैं, व्यक्ति को नहीं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि बुद्धि में तीन बातों का होना आवश्यक होता है–तर्क, सूक्ष्मचिंतन और पर्यावरण या वातावरण के साथ समायोजन।

कुछ लोग बुद्धि एवं ज्ञान को एक समझते हैं, लेकिन ज्ञान और बुद्धि में अन्तर होता है। वस्तुतः ज्ञान का उचित प्रकार से उपयोग बुद्धि द्वारा ही किया जा सकता है। ज्ञान अभ्यास, अनुभव व वातावरण से प्राप्त होता है। बुद्धि के भ्रष्ट हो जाने पर ज्ञान समाप्त हो जाता है जबकि ज्ञान के समाप्त हो जाने से बुद्धि समाप्त नहीं होती है। यह आवश्यक नहीं है कि एक व्यक्ति ज्ञानवान होते हुए बुद्धिमान भी हो।

बुद्धि की सभी परिभाषाओं में कुछ न कुछ विभिन्नता है, लेकिन समानता अधिक है। इसका प्रमुख कारण यह है कि व्यक्ति में 6 कार्यों में से किसी एक कार्य को करने की योग्यता है, तो उसमें अन्य कार्यों को करने की योग्यता होती है। अतः बुद्धि व्यक्ति

की जन्मजात शक्ति है और उसकी सब मानसिक योग्यताओं का योग एवं अभिन्न अंग है। वर्तमान शिक्षा जगत् में 'बुद्धि' का यही अर्थ सर्वमान्य है। इसकी पुष्टि में दो परिभाषायें प्रस्तुत की जा रही हैं–

टिप्पणी

कोलसेनिक के अनुसार, ''बुद्धि कोई एक शक्ति या क्षमता या योग्यता नहीं है, जो सब परिस्थितियों में समान रूप से कार्य करती है, बल्कि यह अनेक विभिन्न योग्यताओं का योग है।''

रैक्स तथा नाइट के अनुसार, ''बुद्धि वह तत्व है, जो सब मानसिक योग्यताओं में सामान्य रूप से सम्मिलित रहता है।" यह परिभाषा इस शताब्दी की एक सबसे महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक खोज का प्रतिष्ठापन करती है।

बुद्धि के विषय में अब एक नया मत विकसित हो रहा है कि बुद्धि नामक कोई भी तथ्य नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी क्षमता होती है। किसी कार्य को करने की क्षमता की विभिन्नता ही विभेद करती है। एक व्यक्ति, एक क्षेत्र में अपनी योग्यता तथा क्षमता का लाभ उठाता है तो दूसरा व्यक्ति दूसरे क्षेत्र में लाभ उठाता है।

स्टोडर्ड के अनुसार–''बुद्धि वह योग्यता है जिसमें कठिनाई, जटिलता, अमूर्तता, मितव्ययिता, उद्दश्यों के प्रति अनुकूलता, सामाजिक मूल्य, मौलिकता की आवश्यकताओं की विशेषतायें हों तथा भावात्मक व्यक्तियों के प्रति सहनशीलता हों।''

बुद्धि की विशेषतायें–बुद्धि एक सामान्य योग्यता है। इस योग्यता से व्यक्ति अपने को तथा दूसरों को समझने का प्रयास करता है। वास्तविकता तो यह है कि सामाजिक तथा वैयक्तिक वातावरण में अन्तःक्रियात्मक गतिशीलता तथा क्षमता का नाम बुद्धि है। बुद्धि की विशेषतायें अग्रलिखित हैं–

1. बुद्धि, व्यक्ति की जन्मजात शक्ति है।
2. बुद्धि, व्यक्ति को अमूर्त चिन्तन में सहायता प्रदान करती है।
3. बुद्धि, व्यक्ति को विभिन्न विषयों को सीखने में सहायता देती है।
4. बुद्धि, व्यक्ति की अपने पूर्व अनुभवों से लाभ उठाने हेतु अवसर उपलब्ध कराती है।
5. बुद्धि, व्यक्ति को कठिन परिस्थितियों एवं जटिल समस्याओं को सरल बनाती है।
6. बुद्धि, व्यक्ति को नयी परिस्थितियों से समायोजन करने के गुण प्रदान करती है।
7. बुद्धि, व्यक्ति को भले–बुरे, सत्य–असत्य, नैतिक–अनैतिक कार्यों में अन्तर करने की योग्यता प्रदान करती है।
8. बुद्धि पर वंशानुक्रम और पर्यावरण का प्रभाव पड़ता है।
9. प्रिन्टर के अनुसार, बुद्धि का विकास जन्म से लेकर किशोरावस्था के मध्यकाल तक होता है।
10. कोल एवं ब्रूस के अनुसार, लिंग भेद के कारण बालकों और बालिकाओं की बुद्धि में बहुत कम अन्तर होता है।

टिप्पणी

5.2.1 बुद्धि के खण्ड या कारक का सिद्धांत

यह पता लगाने के लिए काफी अध्ययन और प्रयास किया गया है कि क्या बुद्धि एक है? यह एकल क्षमता वाली है इसमें कई क्षमतायें होती हैं?

इन मुद्दों के कारण विभिन्न प्रकार के बुद्धि के सिद्धांतों का विकास हुआ। बुद्धि अध्ययन के मूलतः तीन उपागम या सिद्धांत हैं, वे हैं : साइकोमेट्रिक दृष्टिकोण, सूचना प्रसंस्करण दृष्टिकोण तथा संज्ञानात्मक विकासात्मक दृष्टिकोण। साइकोमेट्रिक दृष्टिकोण बुद्धि का वर्णन कई क्षमताओं या क्षमता–समुच्चय के रूप में करता है। चार्ल्स स्पीयरमैन के दो कारक सिद्धांत, कैटेल का जी एफ–जी सी प्रारूप, थर्स्टन की प्राथमिक मानसिक क्षमताओं पर आधारित संकल्पना, गुलफोर्ड की बुद्धि प्रारूप की संरचना और गार्डनर का बहु–बुद्धि का सिद्धांत साइकोमेट्रिक दृष्टिकोण के उदाहरण हैं।

सूचना प्रसंस्करण और अन्य बौद्धिक कार्य दृष्टिकोण उन क्रियाओं पर जोर देता है जिनका हम समस्या समाधान में उपयोग करते हैं। इसमें राबर्ट स्टर्नबर्ग और जे पी दास का 'पास माडल' त्रिकोणीय सिद्धांत शामिल है। बुद्धि का महत्व और विकास संज्ञानात्मक दृष्टिकोण पर जोर देता है। बुद्धि का अध्ययन करने के लिए जीन पियाजे द्वारा प्रस्तुत बुद्धि का सिद्धांत सबसे प्रमुख संज्ञानात्मक विकासात्मक दृष्टिकोण है।

मनोवैज्ञानिक बुद्धि की प्रकृति के विषय में अभी तक कोई सर्वमान्य निष्कर्ष नहीं निकाल पाये हैं। बुद्धि एक कारक है या इसमें कई कारकों का समावेश है, यह प्रश्न अभी तक मनोवैज्ञानिकों के लिए चिंतन का विषय बना हुआ है। इन्हीं कारकों के आधार पर मनोवैज्ञानिकों द्वारा विभिन्न सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है।

5.2.2 एक–खण्ड या कारक का सिद्धांत (बिने, टर्मन, स्टर्न)

एक कारक या खण्ड के सिद्धांत को एक सत्तात्मक सिद्धांत के नाम से भी जाना जाता है। इस सिद्धांत का प्रतिपादन बिने, टर्मन तथा स्टर्न ने किया है। इस सिद्धांत के अनुसार बुद्धि वह शक्ति है जो हमारे सभी मानसिक कार्यों के मूल में होती है। इसके प्रतिपादक मनोवैज्ञानिक बुद्धि को एक अखण्ड और अविभाज्य इकाई मानते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार यदि एक व्यक्ति किसी एक क्षेत्र में पारंगत है तो वह अन्य क्षेत्रों में भी पारंगत होगा।

इस सिद्धांत के समर्थक डा. जानसन का कहना है कि महान् वैज्ञानिक न्यूटन एक महान कवि भी बन सकते थे यदि वे कविता करने की ओर अपना ध्यान लगाते।

अब इस सिद्धांत को दोषपूर्ण माना जाता है, क्योंकि विभिन्न परीक्षणों द्वारा यह सिद्ध कर दिया गया है कि यदि व्यक्ति किसी एक कार्य को बहुत अच्छे तरीके से करता है तो यह जरूरी नहीं है कि वह अन्य कार्यों को भी उतने अच्छे तरीके से करे।

5.2.3 दो–खण्ड या कारक का सिद्धांत (चार्ल्स स्पीयरमैन)

चार्ल्स स्पीयरमैन (1863–1945), एक अंग्रेज मनोवैज्ञानिक और द्वि–कारक विश्लेषण के प्रवर्तक थे। इन्होंने सबसे पहले दावा किया था कि, बुद्धि में सामान्य कारक जिसे 'जी' कारक कहते हैं और 'एस' कारक जिसे विशिष्ट कारक कहते हैं; अन्तर्निहित

होते हैं। उनको मनोविज्ञान के इतिहास में कारक–विश्लेषण के विकास एवं उपयोग का श्रेय दिया जाता है। स्पीयरमैन ने 'जी' कारक का पता लगाने के लिए कारक विश्लेषण और सहसंबंध विश्लेषण तकनीकों का प्रयोग किया।

टिप्पणी

स्पीयरमैन ने व्यक्ति की बौद्धिक योग्यताओं को दो वर्गों में बांटा है–

1. सामान्य तत्व या योग्यता ('जी' कारक)
2. विशेष तत्व या योग्यता ('एस' कारक)

स्पीयरमैन के अनुसार बुद्धि दो तरह की शक्तियों या योग्यताओं का योग है। सामान्य योग्यता व्यक्ति को सभी तरह के कार्यों में सहायता प्रदान करती है। विशेष योग्यता व्यक्ति को विशेष कार्यों को करने में सहायता प्रदान करती है। सामान्य कार्यों के लिए सामान्य बुद्धि तत्व 'जी कारक' की आवश्यकता होती है और विशेष कार्यों को करने के लिए विशेष बुद्धि तत्व 'एस कारक' की आवश्यकता होती है।

सामान्य तत्व वे तत्व होते हैं जो सम्पूर्ण प्रकार की मानसिक प्रक्रियाओं में अन्तर्निहित रहते हैं। सामान्य तत्व निम्नलिखित विशेषतायें होती हैं–

1. यह प्रत्येक व्यक्ति में हमेशा एक समान ही रहता है।
2. यह प्रत्येक व्यक्ति को जन्म से ही प्राप्त होता है।
3. व्यक्ति की समस्त प्रकार की प्रक्रियाओं में इसकी भिन्न–भिन्न आवश्यकता होती है।
4. हर एक व्यक्ति की सामान्य योग्यता अलग–अलग होती है।
5. जिस व्यक्ति में सामाजिक तत्व अधिक होता है उसे अन्य व्यक्तियों से अधिक सफलता मिलती है।

विशिष्ट तत्व 'एस' वह तत्व है जो विशिष्ट प्रकार की प्रतिक्रिया में प्राप्त किया जाता है। इसमें निम्नलिखित विशेषतायें होती हैं–

1. व्यक्तियों में यह तत्व जन्म से प्राप्त नहीं होता है, इसे व्यक्ति अर्जित करता है।
2. भिन्न–भिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाओं के लिए भिन्न–भिन्न प्रकार की विशिष्ट प्रक्रियायें होती हैं।
3. भिन्न–भिन्न व्यक्तियों में भिन्न–भिन्न प्रकार के विशिष्ट तत्व होते हैं, जो विशिष्ट तत्व किसी भी व्यक्ति में अच्छा होता है, उसी विषय में वह सबसे अधिक अच्छा सिद्ध होता है।

स्पीयरमैन ने अपनी पुस्तक 'दी एबिलिटीज ऑफ मैन' (1927) में, बताया है कि समी बौद्धिक गतिविधियां एक ही सामान्य कारक साझा करती हैं; जो एक व्यक्ति अपने जीवन के दौरान करता है और जो सभी गतिविधियों के माध्यम से चलती हैं। स्पीयरमैन ने इस सामान्य कारक को 'मानसिक ऊर्जा' कहा है जो कि व्यक्ति में स्वाभाविक रूप से निर्धारित होती है।

एक व्यक्ति को उच्च 'जी' कारक रखने के लिए प्रशिक्षित नहीं किया जा सकता है। यह जीवन का एक हिस्सा है, जिसके बारे में जानकारी होनी चाहिए। व्यक्तियों के

टिप्पणी

पास अलग–अलग स्थिततियों में सामान्य बुद्धि या 'जी' होती है लेकिन इस सामान्य बुद्धि के आधार पर हम किसी व्यक्ति को बुद्धिमान या मंद के रूप में वर्णित करते हैं। यह 'जी' कारक किसी भी व्यक्ति के बुद्धि परीक्षण स्कोर का प्रमुख निर्धारक होता है।

इसके अलावा विशिष्ट कारक होते हैं जो विभिन्न क्षमताओं के लिए विशिष्ट होते हैं। उन्हें 'एस' कारक कहा जाता है। उदाहरण के लिए, अंकगणित, स्थानिक संबंधों का परीक्षण, मौखिक प्रवाह। इनमें से प्रत्येक संदर्भित विशिष्ट बुद्धि एक अलग 'एस' को मापती है।

स्पीयरमैन ने विभिन्न परीक्षणों पर अलग–अलग व्यक्तियों के द्वारा प्राप्त विभिन्न अंकों के बीच अंतर्सबंधों का सांख्यिकीय विश्लेषण किया है। किन्हीं दो परीक्षणों के बीच एक सकारात्मक सहसंबंध या मानसिक कार्य का अर्थ है एक कारक जो दोनों अथवा 'जी' और दो विशिष्ट कारकों 'एस' के लिए सामान्य है। मान लेते हैं कि दो परीक्षण 'एम' (यांत्रिक) और 'एन' (संख्यात्मक) हैं, जो सामान्य हैं। इन परीक्षणों में कारक 'जी' है और विशिष्ट कारक 'एसएम' और 'एसएन' हैं। इसी तरह 'वी' (मौखिक) और 'एस' (स्थानिक) सामान्य कारक के रूप में 'जी' के साथ दो अन्य परीक्षण और 'एसवी' और 'एसएस' विशिष्ट कारक हैं, जिसको नीचे चित्र में दिखाया गया है। इसमें 'जी' का मतलब 'सामान्य क्षमता' है, और 'एस' 'विशिष्ट क्षमताओं' को प्रदर्शित करता है।

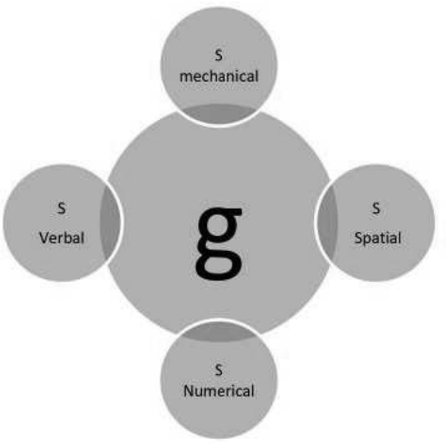

स्पीयरमैन का सिद्धांत बताता है कि मनोवैज्ञानिक परीक्षणों का उद्देश्य व्यक्ति के 'जी' को मापना है जो सभी व्यक्तियों की क्षमताओं और उनके प्रदर्शन की भविष्यवाणी करता है। सभी व्यक्ति अपने 'जी' के आधार पर भिन्न होते हैं। स्पीयरमैन की अक्सर बुद्धि के लिए उनके कारक विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण की आलोचना की जाती है। कहा जाता है कि, यह विशुद्ध रूप से साइकोमेट्रिक है और बुद्धि के संज्ञानात्मक आधार की उपेक्षा करता है। लुई थर्स्टन (1935) ने सामान्य बुद्धि पर स्पीयरमैन के सिद्धांत पर आपत्ति जताई तथा सुझाव दिया कि कारक विश्लेषण का उपयोग करके बुद्धि को कई प्राथमिक क्षमताओं में विभाजित किया जा सकता है। लेकिन वास्तव में मनोविज्ञान के क्षेत्र में स्पीयरमैन के योगदान बहुत महत्वपूर्ण व मूल्यवान हैं क्योंकि उनके दो कारक सिद्धांत के प्रारूप ने मनोविज्ञान में कारक विश्लेषण की शुरूवात की है।

टिप्पणी

5.2.4 तीन–खण्ड या कारक का सिद्धांत (स्पीयरमैन)

दो कारक सिद्धांत की तरह यह सिद्धांत भी स्पीयरमैन के नाम से संबंधित है। 'दो–खण्ड या कारक के सिद्धांत' का प्रतिपादन करने के बाद स्पीयरमैन ने बुद्धि के एक और खण्ड के बारे में बताया। उन्होंने इसका नाम 'सामूहिक खण्ड या तत्व' रखा।

स्पीयरमैन ने इस खण्ड में ऐसी योग्यताओं को स्थान प्रदान किया, जो 'सामान्य योग्यता' से से श्रेष्ठ और 'विशिष्ट योग्यताओं' से निम्न होने के कारण उनके मध्य का स्थान ग्रहण करती हैं।

स्पीयरमैन का यह सिद्धांत सर्वमान्य नहीं बन सका है। इसका कारण बताते हुए क्रो एवं क्रो ने लिखा है कि, ''यह सिद्धांत व्यक्ति की योग्यताओं और पर्यावरण के प्रभावों को स्वीकार न करके, बुद्धि को वंशानुक्रम से प्राप्त किये जाने पर बल देता है।''

5.2.5 बहु–खण्ड या कारक का सिद्धांत (कैली तथा थर्स्टन)

स्पीरमैन के बुद्धि के सिद्धांत पर आगे कार्य करके मनोवैज्ञानिकों ने 'बहु–खण्ड' का सिद्धांत' प्रतिपादित किया। इन मनोवैज्ञानिकों में कैली और थर्स्टन का नाम उल्लेखनीय है।

कैली ने अपनी पुस्तक 'क्रासरोड्स इन दी माइण्ड ऑफ मैन' में बुद्धि को निम्नलिखित 9 खण्डों या योग्यताओं का समूह बताया है–

1. रूचि।
2. गामक योग्यता।
3. सामाजिक योग्यता।
4. सांख्यिक योग्यता।
5. शाब्दिक योग्यता।
6. शारीरिक योग्यता।
7. संगीतात्मक योग्यता।
8. यांत्रिक योग्यता।
9. स्थान–संबंधी विचार योग्यता।

लुई लियोन थर्स्टन (29 मई–30 सितम्बर 1955) ने सुझाव प्रदान किया कि बुद्धिमत्ता सात विशिष्ट प्राथमिक मानसिक क्षमताओं (पीएमए) का एक सम्मिश्रण है। स्पीयमैन के सामान्य बुद्धि के सिद्धांत से उनका दृष्टिकोण भिन्न था। स्पीयरमैन के द्वारा बताये गये सामान्य बुद्धि के एकल कारक के बारे में थर्स्टन (1935) ने बताया कि बाहर की बुद्धि में कई प्राथमिक मानसिक क्षमतायें होती हैं जिस पर ध्यान केंद्रित करने के बजाय उसकी क्षमताओं की विविधता पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए जिसको व्यक्ति पहचानता हो।

थर्स्टन ने उन्नत सांख्यिकीय तकनीकों का प्रयोग करते हुए एक नया बुद्धि का कारक प्रारूप विकसित किया। उन्होंने एक बड़े समूह के विषयों पर 57 परीक्षण ों के अंकों के अंतर–सहसंबंध का विश्लेषण किया और 7 कारकों की पहचान

टिप्पणी

की। इन कारकों को प्राथमिक मानसिक क्षमता या 'पीएमए' कहा जाता है। इनका वर्णन अग्रलिखित है–

1. **आगमनात्मक तर्क** : यह नियम खोजने की क्षमता या तार्किक क्षमता से संबंधित है। यह दी गई जानकारी से सामान्य नियमों और सिद्धांतों की क्षमता से भी संबंधित है।
2. **मेमोरी** : यह घटनाओं को याद करने की क्षमता, शब्दों की सूची, गणितीय सूत्र, तिथियां तथा परिभाषायें याद करने की और उसको संजोये रखने की क्षमता से संबंधित है।
3. **संख्यात्मक** : यह गणितीय समस्याओं के उत्तर की गणना करने के लिए गति और सटीकता के साथ संख्याओं के उपयोग, कम्प्यूटेशनल कौशल की गति और सटीकता के साथ संख्याओं को मापने की योग्यता तथा अंकगणितीय समस्याओं को हल करने की क्षमता से संबंधित है।
4. **अवधारणात्मक गति** : यह विवरण को तेजी से देखने या चीजों के अंतर और समानतायें देखने के लिए तथा अवधारणात्मक विवरणों को जल्दी और सटीक रूप में समझने की क्षमता से संबंधित है।
5. **स्थानिक संबंध** : यह संबंधों को समझने की क्षमता, कल्पना करने की क्षमता और विभिन्न ज्यामितीय पैटर्न, रूपों और काल्पनिक वस्तुओं में हेरफेर करने की योग्यता से संबंधित है।
6. **मौखिक समझ** : यह पढ़ने की समझ की क्षमता, शब्दों और अवधारणाओं को परिभाषित करने की क्षमता, विचारों को समझने की क्षमता तथा मौखिक तर्क करने की क्षमता से संबंधित है।
7. **वर्ड फ्लुएंसी** : यह शब्दों को तेजी से बनाने की क्षमता अर्थात् शब्दों को जल्दी से प्रयोग करने की क्षमता और शब्द का नामकरण करने की क्षमता, तुकबंदी करने की क्षमता तथा क्रासवर्ड पहेलियों को हल करने की क्षमता से संबंधित है।

थर्स्टन ने भी अपनी पुस्तक, 'प्राइमरी मेण्टल एबिलिटिज' में बुद्धि के 13 खण्ड या तत्व बताये हैं। दूसरे शब्दों में, थर्स्टन ने बुद्धि को 13 मानसिक योग्यताओं का समूह बताया है, जिनमें से निम्नांकित 9 को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना गया है–

1. स्मृति।
2. प्रत्यक्षीकरण की योग्यता।
3. गणितीय योग्यता।
4. शाब्दिक योग्यता।
5. तार्किक योग्यता।
6. निगमनात्मक योग्यता।
7. आगमनात्मक योग्यता।

टिप्पणी

8. स्थान–संबंधी योग्यता।

9. समस्या–समाधान की योग्यता।

थर्स्टन इन मानसिक क्षमताओं में से प्रत्येक को एक दूसरे से स्वतंत्र मानते हैं। इन प्रत्येक का अलग से मूल्यांकन किया जा सकता है और बुद्धि के लिए एक भी अंक निर्धारित नहीं हो सकता है। वह एकल बुद्धि–लब्धि अंक के बजाय व्यक्ति के लिए संज्ञानात्मक क्षमता प्रोफाइल का सुझाव देते हैं।

5.2.6 मात्रा का सिद्धांत (थार्नडाइक)

इस सिद्धांत के प्रतिपादक थार्नडाइक हैं। थार्नडाइक 'सामान्य मानसिक योग्यता' के समान किसी तत्व को स्वीकार नहीं करते हैं। इनके मतानुसार, ''मस्तिष्क का गुण स्नायु–तन्तुओं की मात्रा पर निर्भर रहता है।'' इसका आशय यह है कि बुद्धि उतनी ही अधिक अच्छी होती है, जितने अधिक मस्तिष्क और स्नायुमण्डल के संबंध होते हैं, क्योंकि व्यक्ति की मानसिक क्रियाओं के आधार यही संबंध हैं।

थार्नडाइक ने अपने सिद्धांत को 'उद्दीपक–प्रतिक्रिया' के आधार पर सिद्ध किया है। इनका मत है कि जिन अनुभवों का उद्दीपक प्रतिक्रियाओं से संबंध स्थापित हो जाता है, वे भविष्य में उसी प्रकार की समस्याओं का समाधान अधिक सरल बना देते हैं।

थार्नडाइक के सिद्धांत की दो कारणों से आलोचना की गई। प्रथम कारण यह है कि यह सिद्धांत, मस्तिष्क और स्नायु–मण्डल के संबंध पर बहुत अधिक जोर देता है। दूसरे कारण को क्रो एवं क्रो के शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है: ''यह सिद्धांत मस्तिष्क की सम्पूर्ण संरचना के लचीलेपन को कोई स्थान नहीं देता है।"

अपनी प्रगति जांचिए

1. बुद्धि को ज्ञानार्जन की क्षमता के रूप में किसने परिभाषित किया है?

   (क) बुडवर्थ (ख) बुडरो

   (ग) हेनमान (घ) कॉलविन

2. बुद्धि अध्ययन के उपागम हैं _____

   (क) साइकोमेट्रिक (ख) सूचना–प्रसंस्करण

   (ग) संज्ञानात्मक–विकासात्मक (घ) उपरोक्त सभी।

5.3 बुद्धि–लब्धि एवं बहु–बुद्धि

बुद्धि–लब्धि एवं बहु–बुद्धि (मल्टीपल इंटेलिजेंस) को पृथक–पृथक इस प्रकार समझा जा सकता है–

टिप्पणी

5.3.1 बुद्धि–लब्धि

बुद्धि–लब्धि के विचार को जर्मनी के बाल मनोवैज्ञानिक विलियम स्टर्न ने सन् 1912 में प्रतिपादित किया। इन्होंने इसे मानसिक लब्धि के नाम से प्रतिपादित किया था। बाद में टरमैन ने 1916 में अपने स्टैन फोर्ड–बिने परीक्षण में इसका प्रयोग किया और मानसिक लब्धि के बदले बुद्धि–लब्धि नाम दिया।

यहां यह आवश्यक है कि मानसिक आयु के बारे में जानकारी प्राप्त कर ली जाय, क्योंकि बुद्धि–लब्धि में मानसिक आयु एक महत्वपूर्ण कारक है।

मानसिक आयु : मानसिक आयु का विचार सर्वप्रथम बिने ने प्रस्तुत किया। मानसिक आयु शब्द का प्रयोग उन्होंने वर्ष 1908 में प्रकाशित अपने एक लेख 'बिने–साइमन स्केल' में किया। उन्होंने बताया कि मानसिक आयु से तात्पर्य उस आयु से है जिसे कोई व्यक्ति किसी बुद्धि–परीक्षण के आधार पर प्राप्त करता है। वास्तव में मानसिक आयु किसी बालक या व्यक्ति की सामान्य योग्यता के बारे में बताती है। इसको परिभाषित करते हुए गेट्स एवं अन्य ने बताया है कि, मानसिक आयु हमें किसी व्यक्ति की बुद्धि–परीक्षा के समय बुद्धि–परीक्षा द्वारा ज्ञात की जाने वाली सामान्य मानसिक योग्यता के बारे में बताती है। उदाहरण के लिए यदि एक बालक 6 वर्ष के बालकों के औसत वर्ग के लिए निर्धारित बुद्धि–परीक्षण के प्रश्नों को हल कर देता है तो उसकी मानसिक आयु 6 वर्ष मानी जायेगी। यदि इसी प्रकार 7 वर्ष के लिए निर्धारित प्रश्नों को हल कर देता है तो उसकी मानसिक आयु 7 वर्ष मानी जायेगी। मानसिक आयु में वास्तविक आयु को सम्मिलित नहीं किया जाता है। यदि एक बालक जो 8 वर्ष का है और वह 7 वर्ष के औसत दर्जे के बालकों के लिए निर्धारित प्रश्नों को ही हल कर पाता है तो वह पिछड़ा हुआ बालक कहलायेगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मानसिक आयु वह आयु है जो बुद्धि–लब्धि परीक्षणों द्वारा ज्ञात की जाने वाली सामान्य मानसिक योग्यता के बारे में जानकारी प्रदान करती है।

बुद्धि–लब्धि, मानसिक आयु तथा वास्तविक आयु के बीच का अनुपात है। बुद्धि–लब्धि को निकालने के लिए मानसिक आयु में वास्तविक आयु को भाग देकर 100 से गुणा किया जाता है। बुद्धि–लब्धि का सूत्र है–

$$\text{बुद्धि–लब्धि} = \frac{\text{Mental Age}}{\text{Current Age}} \times 100$$

माना जाय कि यदि किसी बालक की बुद्धि–लब्धि का आंकलन करना है, तो सर्वप्रथम उसकी वास्तविक आयु के बारे में जानकारी होनी चाहिए। उसके बाद उसकी मानसिक आयु का पता लगाना चाहिए। अगर किसी बालक की वास्तविक आयु 08 वर्ष है और वह 10 वर्ष के बालक जैसी मानसिक बुद्धि रखता है तो उसकी बुद्धि–लब्धि की गणना निम्नवत होगी–

$$\text{बुद्धि–लब्धि} = \frac{10}{08} \times 100 = 125$$

टिप्पणी

इस बालक की बुद्धि–लब्धि 125 होगी और बालक प्रखर बुद्धि का होगा। इस प्रकार हम बुद्धि–लब्धि के द्वारा यह पता लगा सकते हैं कि यह बालक सामान्य बुद्धि का है या मन्द बुद्धि का है या फिर तीव्र बुद्धि का है।

बुद्धि–लब्धि का वर्गीकरण–टरमैन ने बुद्धि–लब्धि का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है–

बुद्धि–लब्धि	वर्ग
140 से अधिक	प्रतिभाशाली बुद्धि
120 से 140 तक	प्रखर बुद्धि
110 से 120 तक	श्रेष्ठ बुद्धि
90 से 110 तक	सामान्य बुद्धि
80 से 90 तक	मंद बुद्धि
70 से 80 तक	हीन बुद्धि
70 से नीचे सभी वर्ग	क्षीण बुद्धि
50 से 60 तक	मूर्ख बुद्धि
25 से 50 तक	मूढ़ बुद्धि
25 से नीचे	जड़ बुद्धि

5.3.2 मल्टीपल इंटेलिजेंस या बहु–बुद्धि

यह गार्डनर प्रदत्त सिद्धांत है। बहु–बुद्धि की सर्वप्रथम बात गार्डनर ने अपनी पुस्तक 'Farmes of Mind' में की। पियाजे, इरिक्सन, ब्रूनर आदि हावर्ड गार्डनर से प्रभावित थे। इस सिद्धांत के अनुसार बुद्धि का स्वरूप एकाकी नहीं, बहुकारकीय होता है। प्रत्येक की ज्ञानात्मकता एवं बुद्धिमत्ता एक–दूसरे से अलग और स्वतंत्र होती है। मल्टीपल बुद्धि के अग्रलिखित स्वरूप होते हैं–

1. **दृश्य या खुफिया स्थानिक** : यह दृश्य को देखने की क्षमता को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार के लोग चित्रों के बारे में सोचते हैं तथा उन्हीं चित्रों को अपने मस्तिष्क में बनाते हैं तथा उन्हीं चित्रों के आधार पर किसी घटना का चित्रण प्रस्तुत करते हैं। इनके कौशल में नक्शे बनाना, चार्ट बनाना, वीडियो देखना, फिल्में देखना, पहेलियों का निर्माण करना, पढ़ना–लिखना, चार्ट और ग्राफ को समझना, स्केचिंग करना, रूपक बनाना, चित्रों में हेरफेर करना समाहित होता है। इस तरह के लोग अच्छे दृश्य–कलाकार, मूर्तिकार, नाविक, आविष्कारक, आक्रिटेक्ट, इंटीरियर डिजायनर, यांत्रिक इंजीनियर इत्यादि हो सकते हैं।
2. **मौखिक या भाषाई बुद्धि** : इस प्रकार के व्यक्तियों में शब्दों और भाषा के उपयोग करने की क्षमता अत्यधिक होती है। ये अपने श्रवण कौशल को अधिक विकसित कर लेते हैं तथा आमतौर पर सुरूचिपूर्ण वक्ता होते हैं। ये चित्रों के बजाय शब्दों में सोचते हैं। इनके कौशल में सुनना, बोलना, लिखना, कहानी सुनाना, समझना, पढ़ाना, प्रयोग करना, हास्य विनोद करना, वाक्य रचना और

टिप्पणी

शब्दों के अर्थ को समझना, याद रखना, किसी को अपनी बात के लिए राजी करना, भाषा का विश्लेषण करना तथा जानकारी का उपयोग करना आदि शामिल होता है। ये अच्छे कवि, पत्रकार, लेखक, शिक्षक, वकील, राजनीतिज्ञ तथा अनुवादक इत्यादि होते हैं।

3. **तार्किक या गणितीय बुद्धि** : इस प्रकार के लोग अवधारणात्मक रूप से सोचते हैं। इनमें कारण, तर्क और संख्याओं के उपयोग की क्षमता अधिक होती है। ये टुकड़ों के बीच संबंध बनाने वाले, तार्किक और संख्यात्मक ज्ञान वाले होते हैं। ये समस्याओं के समाधान में महारत हासिल कर लेते हैं। ये अपने आस–पास की दुनिया के बारे में हमेशा जानने की इच्छा रखते हैं। अपने आप से बहुत सारे प्रश्न पूछते हैं तथा नये–नये प्रयोग करना पसंद करते हैं।

   समस्या–समाधान, वर्गीकरण और जानकारी को वर्गीकृत करना, एक दूसरे के संबंध का पता लगाना, अमूर्त अवधारणाओं के बारे में जानना, स्थानीय प्रगति करने के लिए कारणों की लम्बी श्रृखला को सम्भालना, नियंत्रित प्रयोग करना, प्राकृतिक घटनाओं के बारे में सवाल करना और उनके बारे में सोचना, जटिल गणितीय गणना करना तथा ज्यामितीय आकार के साथ काम करना इनके कौशल में शामिल होता है। ये वैज्ञानिक, इंजीनियर, कम्प्यूटर प्रोग्रामर, शोधकर्ता, लेखकार तथा गणितज्ञ आदि होते हैं।

4. **शारीरिक या गतिज बुद्धि** : इनमें शरीर की गतिविधियों को नियंत्रित करने और वस्तुओं को कुशलता से सम्भालने की क्षमता होती है। ये लोग अपने आप को आंदोलन के माध्यम से व्यक्त करते हैं। इनमें अच्छी समझ के साथ–साथ अंगों का संतुलन व आंख–हाथ के बीच अच्छा समन्वय होता है। ये अपने आस–पास के लोगों से बातचीत करके समाज की गतिविधियों की जानकारी प्राप्त कर लेते हैं तथा उनको याद रखने में महारत हासिल कर लेते हैं। ऐसे लोग नृत्य, शारीरिक समन्वय, खेल, हाथों से प्रयोग करने, शरीर की भाषा, शिल्प, अभिनय, नकल, शरीर के माध्यम से भावनाओं को व्यक्त करने का कौशल रखते हैं। ये एथलीट, शारीरिक–शिक्षा शिक्षक, नर्तक, अभिनेता तथा अग्निशमन कार्यकर्ता होते हैं।

5. **संगीत निर्माण और सराहना की क्षमता** : इन लोगों का झुकाव संगीत की तरफ होता है। ये ध्वनियों, लय के तरीकों के बारे में अधिक जानकारी रखते हैं। ये लोग संगीत का जवाब तुरंत देते हैं। ये जो संगीत सुनते हैं उसकी सराहना करते हैं या आलोचना करते हैं। ये पर्यावरणीय ध्वनियों के प्रति भी अति संवेदनशील होते हैं। गायन, संगीत–वाद्ययंत्र बजाना, लय को पहचानना, संगीत रचना करना, धुनों को याद रखना इनका स्वभाव होता है। ये संगीत की लयबद्ध संरचना को समझने वाले होते हैं। ऐसे लोग संगीतकार, डिस्को जाकी, गायक व रचना करने वाले होते हैं।

6. **पारस्परिक खुफिया बुद्धि** : इनमें दूसरों को जोड़ने व समझने की क्षमता होती है। ये लोगों की समझ और दृष्टिकोण को समझने का प्रयास करते हैं कि लोग कैसे सोचते हैं और उनमें किस प्रकार का ज्ञान है। इनमें भावनाओं

टिप्पणी

और इरादों को समझने की विशेष क्षमता होती है। ये महान आयोजक होते हैं जिसके लिए वे कभी–कभी चालाकी का भी सहारा लेते हैं। आम तौर पर वे समूह की परिस्थिति में शांति बनाये रखने की कोशिश करते हैं तथा सहयोग को प्रोत्साहित करते हैं। ये संचार करने हेतु मौखिक व अशाब्दिक भाषा का उपयोग करते हैं।

इस तरह के लोग वस्तुओं को दूसरे नजरिये से देखना, सुनना, इस्तेमाल करना, सहानुभूति, अन्य लोगों के मूड और भावनाओं को समझना, परामर्श, समूहों के साथ सहयोग करना, लोगों के मिजाज के बारे में जानना, प्रेरणाओं के बारे में जानना, मौखिक व गैर मौखिक दोनों तरह के संवाद करना, विश्वास बनाना, शांतिपूर्ण संघर्ष समाधान तथा दूसरों के साथ सकारात्मक संबंध स्थापित करना अच्छी तरह जानते हैं। ये लोग अच्छे परामर्शदाता, सेल्सपर्सन, पालिटिशियन एवं बिजनेस पर्सन होते हैं।

7. **आत्म–प्रतिबिंबित करने की क्षमता और किसी की आंतरिक स्थिति के बारे में जागरूक होना** : इस प्रकार के लोगों में अपनी आंतरिक भावनाओं और किसी की आंतरिक स्थिति के बारे में जानकारी करने में महारत हासिल होती है। ये अपनी आंतरिक भावनाओं, सपनों, संबंधों को समझने की कोशिश करते हैं। ये दूसरों की ताकत व कमजोरियों के बारे में जानकारी रखते हैं। अपनी ताकत व कमजोरियों को पहचानते हैं, समस्याओं को स्वयं प्रतिबिंबित करते हैं और विश्लेषित करते हैं। अपनी आंतरिक भावनाओं, इच्छाओं और सपनों के बारे में जागरूक रहते हैं तथा ये तर्क के साथ किसी वस्तु को देखते हैं। प्रायः ये लोग शोधकर्ता, सिद्धांतकार व दार्शनिक होते हैं।

बहु–बुद्धि के बारे में कैली ने अपनी पुस्तक 'क्रासरोड्स इन दी माइण्ड ऑफ मैन' में और थर्स्टन ने अपनी पुस्तक, 'प्राइमरी मेण्टल एबिलिटिज' में भी चर्चा की है।

बहु–बुद्धि के बारे में कतिपय मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि बुद्धि का विभिन्न प्रकार की योग्यताओं में विभाजन करना सर्वथा अनुचित है। क्रो एण्ड क्रो ने लिखा है कि, ''इन तत्वों (योग्यताओं) को जटिल मानसिक क्रिया की पृथक इकाइयां नहीं समझा जाना चाहिए।''

अपनी प्रगति जांचिए

3. बुद्धि–लब्धि नाम किसने दिया?

(क) विलियम स्टर्न (ख) टरमैन

(ग) थार्नडाइक (घ) गार्डनर

4. इनमें से क्या बहु–बुद्धि के स्वरूपों में शामिल नहीं है?

(क) खुफिया स्थानिक (ख) भाषाई बुद्धि

(ग) कल्पना जीविता (घ) गतिज बुद्धि

टिप्पणी

5.4 सामाजिक बुद्धि

बीसवीं शताब्दी के आगमन के साथ, लोगों ने इस तथ्य पर विश्वास करना शुरू कर दिया था कि व्यक्ति जो बिल्कुल समान पैदा होते हैं वे दो नहीं, एक समान हैं। जब हम 'समान' कहते हैं तो इसका अर्थ विशेषतायें और विचार–प्रक्रिया तथा भौतिक दोनों होता है। कभी लोग अपने बच्चों से कहते थे कि जो उनके पसंदीदा खिलाड़ी या एथलीट आदि हों उनके जैसा बनें। वर्तमान समय में सार्वभौमिक रूप से यह स्वीकार कर लिया गया है कि किसी को किसी और के जैसा होने के लिए कहना न केवल अवास्तविक है बल्कि अव्यवहारिक भी है।

वस्तुतः यह एक विनाशकारी अभ्यास है, क्योंकि यह लोगों में मानसिक विकास और रचनात्मक सोच को रोकता है। दो लोग एक दूसरे से अलग पैदा होते हैं तथा उनके सोचने का तरीका और दुनिया की व्याख्या करना अलग–अलग होता है। उन्हें कोई और के जैसा बनने के लिए कहना उनके विकास को रोकता है क्योंकि उनका व्यक्तित्व अलग–अलग होता है। जबकि व्यक्तियों के पैदा होने का यह पहलू अनोखा है और हमें व्यक्तित्व लक्षणों और दृष्टिकोणों की विस्तृत विविधता प्रदान करता है। यही वह कारक है जो विचारों में अन्तर रखने का कारण प्रदान करता है।

हमारे विचारों के अंतर और समस्याओ को देखने के अनूठे तरीकों के बावजूद हम इस तथ्य से इनकार नहीं कर सकते हैं कि हम सभी सामाजिक प्राणी हैं और हमें दूसरों के साथ अन्तःक्रिया करनी होती है। हम सभी लोगों को एक दूसरे की आवश्यकता होती है जो हमारे विकास, ज्ञान, जागरूकता और अस्तित्व से संबंधित होती है। इस प्रकार की अन्य लोगों से बातचीत व संबंधों की प्रक्रिया हमें अनुकूलन का कौशल सिखाती है। हम अन्य व्यक्तियों से जब संबंधित होते हैं तो हम अपनी जीवन शैली में समायोजन करना सीखते हैं। हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम एक दूसरे से संबंध बनाये रखें तथा विभिन्न परिस्थितियों में अपना अनुकूलन समायोजित रखें। हमारे आत्म–विश्वास, आत्म–सम्मान और आत्म–जागरूकता एवं बातचीत से अन्य लोग प्रभावित होते हैं।

5.4.1 सामाजिक बुद्धि क्या है?

सामाजिक बुद्धि को दुनिया में हो रही घटनाओं को डिकोड करने की मानवीय क्षमता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। यह क्षमता मनुष्यों कि लिए विशिष्ट होती है और हमें जानवरों के साम्राज्य में बाकी प्राणियों से अलग करती है। यह मानवी संबंधों को बनाये रखते हुए बुद्धिमानी से कार्य करने की क्षमता के रूप में भी जानी जाती है। प्राचीन समय से यह देखा जाता रहा है कि कई असाधारण बुद्धिमान लोग सामाजिक जीवन को बनाये रखने के लिए बहुत संघर्ष करते हैं।

इस परिप्रेक्ष्य में एक उदाहरण है जो किम पीक का है, जिसके जीवन पर एक बहुत प्रसिद्ध फिल्म 'रेन मैन' बनी। किम पीक के अन्दर एक असाधारण तेज स्मृति थी जिसके आधार पर वह एक समय में किताब के दोनों पन्नों को एक साथ आसानी से पढ़ लेता था। इस प्रक्रिया में वह किताब की दायीं तरफ के पन्ने को दायीं आंख से

टिप्पणी

तथा बायीं ओर के पन्ने को बायीं आंख से देखते हुए पढ़ लेता था। इस तकनीक के माध्यम से पीक ने कई पुस्तकों का अध्ययन किया तथा उन्हें स्थायी रूप से याद भी रखा। जांच में पाया गया कि पीक अंतिम बार 12,000 किताबों के पैराग्राफ को याद करने वाला था। हालांकि वे सामाजिक रूप से अयोग्य थे और वे हमेशा मानवी संपर्क से बचते थे। उनके जीवन के इस पहलू के बारे में केवल उनके पिता ही जानते थे।

इस तरह के उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि सामाजिक बुद्धि के समान स्तर भी असाधारण रूप से बुद्धिमान लोगों के पास भी नहीं होनी चाहिए। सामाजिक बुद्धि अकादमिक क्षमता से अलग है तथा समीकरणों को हल करने की क्षमता तथा उन्हें परिभाषित करने व सीखने की मानसिक सुविधाओं की तुलना में अन्य लोगों से जुड़ने की प्रतिभा को दर्शाती है। हाल की परिभाषा के अनुसार, सामाजिक बुद्धि एक व्यक्ति की बाहरी दुनिया के बारे में ज्ञान और तथ्यों का संग्रह है। यह आत्मविश्वास और नये लोगों से मिलने की इच्छा जैसे कारकों से प्रभावित हो सकती है।

सामाजिक बुद्धि को अन्तरवैयक्तिक बुद्धि के रूप में भी जाना जाता है, क्योंकि यह किसी व्यक्ति की उसकी अन्य लोगों के बीच अंतर को नोटिस करने की क्षमता का अध्ययन करती है। इस अवधारणा के अनुसार, एक व्यक्ति का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व के अंतर का एक विशिष्ट उत्पाद है तथा उसके विभिन्न क्षेत्रों के ज्ञान के साथ–साथ उसके साथ सामाजिक संबंधों के स्तर में उसके आस–पास के लोग शामिल होते हैं।

बुद्धि का विभाजन करना एक कठिन कार्य है। बुद्धि तो वह क्षमता है जिसका उपयोग व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों तथा परिवेश में करता।

(अ) गैरेट ने बुद्धि के तीन प्रकार बताये हैं, जो अग्रलिखित हैं–

1. **मूर्त बुद्धि** : इस बुद्धि को गामक या यांत्रिक बुद्धि के नाम से भी जाना जाता है। इसका संबंध यंत्रों और मशीनों से होता है। जिस व्यक्ति में यह बुद्धि होती है, वह यंत्रों और मशीनों के कार्य में विशेष रूचि लेता है। अतः इस बुद्धि के व्यक्ति अच्छे कारीगर, मकैनिक, इंजीनियर, औद्योगिक कार्यकर्ता इत्यादि होते हैं।
2. **अमूर्त बुद्धि** : इस बुद्धि का संबंध पुस्तकीय ज्ञान से होता है। जिस व्यक्ति में यह बुद्धि होती है, वह ज्ञान का अर्जन करने में विशेष रूचि लेता है। इस प्रकार की बुद्धि वाले लोग अच्छे वकील, डाक्टर, दार्शनिक, चित्रकार तथा साहित्यकार इत्यादि होते हैं।
3. **सामाजिक बुद्धि** : इस प्रकार की बुद्धि का संबंध व्यक्तिगत और सामाजिक कार्यों से होता है। जिस व्यक्ति में यह बुद्धि होती है, वह मिलनसार, सामाजिक कार्यों में रूचि लेने वाला और मानव–संबंध के ज्ञान से परिपूर्ण होता है। अतः इस बुद्धि के व्यक्ति अच्छे मंत्री, व्यवसायी, कूटनीतिज्ञ और सामाजिक कार्यकर्ता होते हैं।

टिप्पणी

(ब) थार्नडाइक के अनुसार बुद्धि के तीन प्रकार होते हैं, जो अग्रलिखित हैं–

1. **अमूर्त बुद्धि** : यह बुद्धि ज्ञानोपार्जन के लिए प्रयोग की जाती है। शब्दों, प्रतीकों, समस्या–समाधान आदि के रूप में अमूर्त बुद्धि का प्रयोग किया जाता है।
2. **सामाजिक बुद्धि** : सामाजिक बुद्धि के द्वारा व्यक्ति समाज में समायोजन स्थापित करता है। वह विभिन्न व्यवसायों में सफलता प्राप्त करता है।
3. **यांत्रिक बुद्धि** : इस बुद्धि की सहायता से व्यक्ति यंत्रों तथा भौतिक वस्तुओं का परिचालन करता है। ऐसे व्यक्ति इंजीनियर, मैकेनिक, टेक्नीशियन इत्यादि होते हैं।

5.4.2 सामाजिक बुद्धि के तत्व

सामाजिक बुद्धि पारस्परिक संबंधों का सफलतापूर्वक संचालन करती है। उच्च सामाजिक बुद्धि यह समझ सकती है कि व्यक्ति के साथ दूसरे कैसा महसूस करते हैं। वे सहज रूप से जानते हैं कि सामाजिक समायोजन में क्या कहना है।

सामाजिक बुद्धि के प्रमुख तत्व निम्नलिखि हैं–

1. मौखिक प्रवाह और संवादी कौशल।
2. सामाजिक भूमिकाओं, नियमों और लिपियों का ज्ञान।
3. श्रवण कौशल में प्रभावी व्यक्तित्व।
4. दूसरे लोगों की हास्य–विनोद की भावनाओं के बारे में जानना।
5. भूमिका निर्वहन और सामाजिक आत्म–प्रभावकारिता।
6. प्रभाव प्रबंधन कौशल।

सामाजिक रूप से बुद्धिमान व्यक्ति की मुख्य तात्विक विशेषताओं में शामिल हैं–

1. वे किसी ऐसे व्यक्ति से एक मजबूत भावनात्मक प्रतिक्रिया प्राप्त करने की कोशिश नहीं करते जिनके साथ वे वार्तालाप कर रहे होते हैं।
2. वे लोगों की राजनीति या विचारों के बारे में निश्चित रूप से नहीं बोलते हैं।
3. वे आलोचना से तुरंत इनकार नहीं करते हैं या उस पर इतनी मजबूत भावनात्मक प्रक्रिया नहीं देते हैं कि वे अपरिवर्तनीय हो जाते हैं।
4. वे किसी के बारे में राय नहीं बनाते हैं।
5. वे कभी भी अपने व्यवहार के माध्यम से अन्य लोगों को अधिक सामान्य नहीं बनाते हैं। वे शायद ही कभी निरपेक्षता का उपयोग करते हैं। वे एक बिंदु को स्पष्ट करने के लिए 'आप हमेशा' या 'आप कभी नहीं' का उपयोग नहीं करते हैं।
6. वे सटीकता के साथ बोलते हैं और अपने शब्दों का चयन बड़ी ही सावधानी से करते हैं।
7. वे स्वस्थ्य पृथक्करण का अभ्यास करना जानते हैं।

टिप्पणी

8. वे लोगों को अपनी अज्ञानता के बारे में बताने की कोशिश नहीं करते हैं।
9. वे अन्य लोगों की भावनाओं को मानते हैं।
10. वे उन लोगों से बहस नहीं करते हैं जो केवल जीतना चाहते हैं, सीखना नहीं।
11. वे सुनने के लिए सुनते हैं जवाब देने के लिए नहीं।
12. वे आनलाईन कुछ भी पोस्ट नहीं करते हैं।
13. वे स्वयं को सत्य का न्यायाधीश नहीं मानते हैं।
14. वे 'कुएं में जहर' नहीं डालते हैं।
15. उनका प्राथमिक संबंध स्वयं से है, और वे इस पर अथक प्रयास करते हैं।
16. वे गलतियों को पहचानते हैं और क्षमा याचना स्वीकार करने और क्षमा करने के लिए तैयार भी रहते हैं।
17. वे आलोचना से तुरंत इनकार नहीं करते हैं।
18. वे सहानुभूति पर करुणा को महत्व देते हैं।
19. वे समस्याओं को विकास के अवसरों के रूप में देखते हैं।

5.4.3 सामाजिक बुद्धि का महत्व

उद्योगों में लोग अपनी सामाजिक अक्षमता के कारण भी नौकरी से हाथ धो देते है। पहले प्रतिभाशाली लोग सोचते थे कि एक कम्पनी में अपनी जगह की गारंटी के लिए अपनी नौकरी में अच्छा होना आवश्यक है। हालांकि, वर्तमान के बदलाव ने व्यावसायिक दृष्टिकोण पर कर्मचारियों को पुनर्विचार करने पर मजबूर कर दिया है। वे अब महसूस करते हैं कि वे डेस्क–जॉब के ही कर्मचारी नहीं हो सकते हैं, उन्हें संगठन के सुधार और विकास में रूचि और भाग लेना प्रारम्भ करना होगा।

प्रौद्योगिकी ने जहां एक तरफ लोगों को आत्म–केंद्रित बना दिया है वहीं दूसरी तरफ लोग अब आनलाईन बात करते है। सहज सामाजिकता से पृथक ऐसे लोग समझते हैं कि वे अपनी खुशी से एक–दूसरे से बात कर रहे हैं। जबकि वे लोग अपने बगल में बैठे लोगों तक की अनदेखी करते हैं। लोगों ने अपने चारों तरफ जो यह सीमा खींच रखी है, वह उन्हें व्यक्तियों से अलग–थलग कर रही है और यही हमारे रिश्ते की एक गम्भीर समस्या का रूप धारण करती जा रही है।

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि बेहतर सामाजिक कौशल वाले लोगों के मित्र भी अधिक होते हैं, और वे अपने रिश्तों को निभाना भी जानते हैं। इस प्रकार के लोगों को उनके वृत्तिक में सफलता प्राप्त होती है और दूसरी तरफ वे खुशहाल जिंदगी भी जीते हैं।

हम एक समाज में रहते हैं और प्रत्येक दिन विभिन्न व्यक्तित्व वाले लोगों के सम्पर्क में आते हैं। इन लोगों से मिलते समय अलग–अलग सामाजिक और मनोवैज्ञानिक विशेषताओं जैसे, सुख–दुःख, गलतफहमी, झगड़े तथा अन्य विभिन्न भावनाओं का अनुभव हम करते हैं। यदि हमें इन भावनाओं से निपटना नहीं आता है तो हम ऐसे लोगों से बचने का प्रयास करते हैं जिनसे ये भावनायें हमें मिलती हैं या

हमें असहज महसूस होता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति से हम उन लोगों के प्रति गैर प्रतीत होते हैं जो लोग हमारे लिए महत्वपूर्ण हो सकते हैं। इसलिए सामाजिक बुद्धि की महत्ता स्वयं सिद्ध है।

टिप्पणी

5.5 भावनात्मक बुद्धि

वर्ष 1955 में भावनात्मक बुद्धि की अवधारणा को पहली बार व्यापक रूप से पेश किया गया। उस समय यह प्रयास कम्पनियों में कार्य कर रहे लोगों के गुणों पर आच्छादित हो गया। परंपरागत रूप से कार्य कर रहे लोगों के गुण जैसे, नेतृत्व, बुद्धि, दृढ़–संकल्प आदि तेजी से बदलते व्यापार के परिदृश्य में सफल होने के लिए पर्याप्त नहीं थे। लोगों को यह एहसास होने लगा कि व्यवसाय चलाने के लिए मात्र बुद्धि–लब्धि ही पर्याप्त नहीं हैं। एक स्थायी व्यवसाय करने के लिए अपने ग्राहकों से संवाद करना तथा इसे हमेशा बनाये रखना बहुत आवश्यक है।

दूसरे शब्दों में व्यवसायी अपने व्यवसाय की प्रगति के लिए भावनात्मक बुद्धि का प्रयोग करने लगे। विशषज्ञों ने किसी व्यक्ति की भावनात्मकता को बढ़ाने वाले कारकों की पहचान की है।

एक सफल व्यवसाय के लिए निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक होता है–

1. **आत्म–जागरूकता** : यह तत्व अपनी भावनाओं को पहचानने और समझने की क्षमता से संबंधित है। यह भावनात्मक प्रक्रियाओं और व्यवहार के प्रदर्शन को समझने में सहायता प्रदान करता है। यह लोगों को दूसरे लोगों के मन में उनके द्वारा बनाई गई धारणा के बारे में जानकारी प्रदान करता है। एक आत्म–जागरूक व्यक्ति अपनी क्षमताओं की सीमाओं के प्रति हमेशा आश्वस्त होता है तथा अपने वर्तमान के प्रति जागरूक भी होता है।
2. **भावनाओं को संभालना** : जो लोग अपनी भावनाओं को संभालना जानते हैं वे जबरदस्त भावनात्मक दबाव में भी शांत रह सकते हैं। यह एक रूप से टीम प्रदर्शन के लिए जिम्मेदार कर्मचारियों को तैयार करने का तरीका है। यह उन्हें जल्दीबाजी में निर्णय लेने से रोकता है जिसकी वजह से हो सकता है वे बाद में पछताने लगें। ये लोगों में भावनाओं पर नियंत्रण के लिए उत्तरदायी होता है।
3. **आत्म–प्रेरणा** : यह विपरीत परिस्थितयों में स्वयं को प्रेरित करने की क्षमता है जो एक दृढ़निश्चयी व्यक्ति की पहचान होती है। यह गुण लोगों में सकारात्मक ऊर्जा का संचार करता है। जीवन की कठिनाइयों से लड़ने की ताकत प्रदान करता है तथा समस्याओं को हल करने में सहयोगी होता है।
4. **सहानुभूति** : सहानुभूति खुद को दूसरे लोगों के स्थान पर रखकर उनकी समस्याओं को देखने का नजरिया है। यह दृष्टिकोण लोगों को दूसरे की समस्याओं से रूबरू कराने में मदद करता है।

टिप्पणी

5. लचीलापन : वर्तमान समय में लचीलापन एक बहुत महत्वपूर्ण गुण है। कोई भी व्यक्ति अपनी दृढ़ता से सभी बाधाओं को हरा सकता है। वह सभी रास्तों का विजेता हो सकता है। एक लचीला व्यक्ति बदलते परिवेश के अनुकूल हो सकता है। उसमें व्यापक अनुसरण योग्य रूझानो को समझने के लिए दृष्टि का विकास हो सकता है।

अध्ययन में यह निष्कर्ष निकाला गया कि जो नेता अपनी भावनात्मक बुद्धि का उपयोग अधिक करता है उसके मानने वालों की संख्या अधिक हो जाती हैं तथा उसके जीतने की सम्भावना भी बढ़ जाती है।

अपनी प्रगति जांचिए

5. दुनिया में हो रही घटनाओं को डीकोड करने की मानवीय क्षमता क्या है?

(क) पारस्परिक खुफिया बुद्धि (ख) सामाजिक बुद्धि

(ग) दैविक बुद्धि (घ) गणितीय बुद्धि

6. भावनात्मक बुद्धि का प्रस्तुतीकरण कब हुआ?

(क) 1890 (ख) 1955

(ग) 2000 (घ) 2019

5.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (घ)
3. (ख)
4. (ग)
5. (ख)
6. (ख)

5.7 सारांश

जब से मनोविज्ञान की उत्पत्ति हुई है तब से लेकर आज तक बुद्धि का सर्वमान्य स्वरूप निश्चित नहीं हो सका है। समय–समय पर विभिन्न विद्वानों द्वारा बुद्धि की जो परिभाषायें प्रदान की जाती रही हैं वे बुद्धि के एक पक्ष या विशेषता या क्षमता से संबंधित रहीं हैं। बुद्धि स्वाभाविक प्रकृतिप्रदत्त मानसिक योग्यता है।

बालक की शारीरिक या वास्तविक आयु एवं मानसिक आयु के आनुपातिक स्वरूप को बुद्धि–लब्धि कहा जाता है।

बुद्धि–लब्धि निकालने के लिए मानसिक आयु में वास्तविक आयु का भाग देकर 100 से गुणा कर दिया जाता है।

टिप्पणी

व्यक्ति जिस प्रकार के पर्यावरण या वातावरण में रहता है उसी के अनुरूप कार्य करने लगता है। इस दृष्टिकोण के पक्षधर मनोवैज्ञानिक परिस्थिति को ही महत्वपूर्ण मानते हैं, व्यक्ति को नहीं। बुद्धि में तीन बातों का होना आवश्यक होता है–तर्क, सूक्ष्मचिंतन और पर्यावरण या वातावरण के साथ समायोजन।

कुछ लोग बुद्धि एवं ज्ञान को एक समझते हैं, लेकिन ज्ञान और बुद्धि में अन्तर होता है। वस्तुतः ज्ञान का उचित प्रकार से उपयोग बुद्धि द्वारा ही किया जा सकता है। ज्ञान अनुभव व वातावरण से प्राप्त होता है। बुद्धि के भ्रष्ट हो जाने पर ज्ञान समाप्त हो जाता है जबकि ज्ञान के समाप्त हो जाने से बुद्धि समाप्त नहीं होती है। यह आवश्यक नहीं है कि एक व्यक्ति ज्ञानवान होते हुए बुद्धिमान भी हो।

5.8 मुख्य शब्दावली

- **बुद्धि** : थर्स्टन के अनुसार, ''बुद्धि में शाब्दिक आगमन, तर्क शक्ति, स्मरण शक्ति, वाक् शक्ति, वस्तु–प्रेक्षण शक्ति, संख्या की गणना तथा प्रतिबोधक गति सम्मिलित है।''
- **बुद्धि–लब्धि** : बालक की शारीरिक या वास्तविक आयु एवं मानसिक आयु के आनुपातिक स्वरूप को बुद्धि–लब्धि कहा जाता है।
- **सामाजिक बुद्धि** : समाज के अनुरूप अपने आपको समायोजित करने की बुद्धि सामाजिक बुद्धि कहलाती है।

5.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. बुद्धि से क्या तात्पर्य है?
2. बुद्धि में किस प्रकार की योग्यता होती है?
3. मात्रा का सिद्धांत क्या है?
4. मानसिक आयु क्या होती है?
5. गतिज बुद्धि किसे कहते हैं?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. बुद्धि को परिभाषित करते हुए इसके कारकों की विवेचना कीजिए।
2. बुद्धि–लब्धि से संबंधित तथ्यों का वर्णन कीजिए।
3. बहु–बुद्धि के स्वरूपों का विश्लेषण कीजिए।
4. सामाजिक बुद्धि क्या है? इसके प्रकारों का निरूपण कीजिए।
5. भावनात्मक बुद्धि पर सारगर्भित टिप्पणी लिखिए।

टिप्पणी

5.10 सहायक पाठ्य सामग्री

1. Spearman, C. (1904). General intelligence objectively determined and measured. American Journal of Psychology, 15, 201-292.
2. Spearman, C. (1927).The abilities of man. London: Macmillan.
3. Thurstone, L.L. (1935). The vectors of mind: Multiple factors analysis for the isolation of primary traits. Chicago: University of Chicago Press.
4. From http:èèwww.ldpride.net
5. Crowne, K. A., An Empirical Analysis of Three Intelligences, Canadian Journal of Behavioural Science, vol. 45, no. 2, April 2013, pp. 105-114.
6. Social Intelligence (SI), https:èèwww.toolshero.comècommunication-skillsèsocial-intelligenceè
7. Riggio, R. E., What is Social Intelligence? Why does it Matter? https:èèwww.psychologytoday.comèusèexpertsèronald-e-riggio-phd
8. Wiest, B., 16 Signs of a Socially Intelligent Person, https:èèwww.huffin gtonpostcomèbriannawiestè16-signs-of-a-socially-in_b_8855184.html [8] Wiest, B., 13 Things Socially Intelligent Leaders Do Differently,"
9. Pathak, P. D., "Shiksha-Manovigyan", Vinod Pustak Mandir, Agra, Year, 2007, p. 327-333.
10. Jaysawal, Dr. Sitaram, "Shiksha Manovigyan", Prakashan Kendra, Lucknow, Year, 2004, p. 234.
11. Crow and Crow, "Educational Psychology."
12. Garrett, Henry E., "General Psychology."
13. Garrett, Henry E., "Statistics in Psychology and Education."
14. Rex and Knight, "A Modern Introduction to Psychology." P. 127.
15. Thomson, George G., "Child Psychology."
16. Woodworth, R.S., "Psychology.", p.32.
17. Terman in the Symposium,"Intelligence and its Measurement", Journal of Educational Psychology, Vol. 12.
18. Woodrow in the Symposium, "Intelligence and its Measurement", Journal of Educational Psychology, Vol. 12.
19. Dearborn in the Symposium, "Intelligence and its Measurement", Journal of Educational Psychology, Vol. 12.
20. Henmon in the Symposium, "Intelligence and its Measurement", Journal of Educational Psychology, Vol. 12.

21. Binet, Quoted by Terman in The Measurement of intelligence, p. 45.
22. Thorndike in the Symposium, "Intelligence and its Measurement", Journal of Educational Psychology, Vol. 12.
23. Pintner, R., "Intelligence Testing", p. 139.
24. Colvin in the Symposium, "Intelligence and its Measurement", Journal of Educational Psychology, Vol. 12.
25. Kolesnik, Walter B., "Educational Psychology." P. 139.

टिप्पणी